

# कुछ उथले कुछ गहरे

[ बाबू गुलाब राय जी के हास्य व्यङ्ग्यात्मक और गम्भीर लेखों  
का एक सरस संग्रह ]

संकलन करीं  
**सुधा रानी गुप्ता**  
विदुषी, प्रभाकर

शिवलाल अग्रवाल एंड कं० लि०  
पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रता  
आगरा

प्रकाशक  
शिवलाल अग्रवाल एंड कं० लि०  
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण : १५ फरवरी १९५६  
मुल्य : ३ ॥)

मुद्रक  
कल्याण प्रिंटिंग प्रेस  
आगरा

## समर्पण

‘सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाई’

-बिहारी

धन्वन्तरि और अश्विनी कुमार के अवतार स्वरूप

डाक्टर केदारनाथ गौड, डाक्टर चन्द्रभानसिंह,

डाक्टर के० एस० माथुर, डाक्टर बालकृष्ण दुबे

तथा

डा० श्री कृष्णदास एवं श्री जय बिहारी माथुर (प्राकृतिक चिकित्सक)

को

जिन्होंने फीस के लिए नहीं वरन् मेरे ही लिए

मेरे और मेरे परिवार के स्वास्थ्य की रक्षा कर

मुझे ६९वे वर्ष के दर्शन कराए

अपने जन्म दिवस के अवसर पर

आदर और कृतज्ञता के साथ समर्पित

गोमती-निवासी  
दिल्ली-दरवाजा, आगरा  
माघ शुक्ला ४ सं० २०५२

गुलाबराय

## परिचायिका

आत्माभिव्यक्ति चाहे मनुष्य की मूल प्रेरणा न हो किन्तु वह मनुष्य की मूलतम प्रेरणा 'अहं' से ग्रन्थित अवश्य है और इसी कारण वह अपना विशेष महत्व रखती है। इसी को तुलसीदास जी ने स्वान्तःसुख्य कहा है और इसी की प्रेरणा से उन्होंने रघुनाथ-गाथा गाई है। मुझे जैसे निम्नकोटि के आधुनिक जीवों में वही 'यशसे' का रूप धारण कर लेती है। उसी यशसे की प्रबल प्रेरणावश (अर्थकृते का दोषी तो न कहूँगा भागी भी रहा हूँ) मैं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर निबन्ध लिखता रहा हूँ। ऐसे निबन्धों को एक संग्रह 'मेरे निबन्ध-जीवन और जगत' के शीर्षक से निकल चुका है, दूसरा संग्रह कुछ 'उथले और गहरे' के नाम से आपकी सेवा में उपस्थित हो रहा है और तीसरा संग्रह 'अध्ययन और आस्वाद' भी शीघ्र ही प्रकाश में आ जाएगा। इन संग्रहों में पुत्र-पुत्रियों का विशेष हाथ रहा है। उन्होंने अखबार की कतरनों को पुस्तकाकार दिया है। (इस संग्रह का श्रेय सुधा रानी को है) अखबार में छपने से वाणी का प्रसार तो अवश्य कुछ अधिक होता है किन्तु उसमें स्थायित्व कम रहता है। प्रकाशक लोग अस्थायी को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होते हैं इसलिए वे मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। श्री फूलचन्द जी जैन 'सारङ्ग' का भी जिन्होंने इस संग्रह के प्रूफ देखने की कृपा है, मैं विशेष आभारी हूँ।

इन निबन्धों में कुछ तो मेरी पूर्व प्रकाशित किन्तु अब कम प्रचलित पुस्तकों से, जैसे ठलुआ क्लब, फिर निराशा क्यों और मेरी असफलताओं से लिए गये हैं और कुछ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नव भारत टाइम्स, मध्यम भारत संदेश, कल्याण, नौक-झोंक, मतवाला आदि से लिए गये हैं। उन सब सम्पादकों का मैं आभारी हूँ क्योंकि उनकी ही कृपा से मेरे विचारों ने मस्तिष्क के अंधकारमय कोटर से बाहर आकर प्रकाश की प्रथम रश्मियों से परिचय प्राप्त किया।

इस संग्रह में दोनों ही प्रकार के लेख हैं, कुछ हलके और कुछ भारी-भरकम किन्तु भारी-भरकम भी इतने बोझिल नहीं हैं कि उनसे कोई दब जाय। यथा सम्भव शैली की सजीवता उनके भारीपन को कुछ हल्का बनाती गई है। इसी प्रकार हलके लेखों का हलकापन शैली के पाण्डित्य से दूर करने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में यह प्रयत्न किया तो नहीं गया है यह पाण्डित्य अभ्यास वश जिसमें बहुत सी प्रवृत्तियाँ और ग्रन्थियाँ सम्मिलित हैं आ गया है। जो कुछ भी हो, भारी लेखों में सजीवता से और हलकों में पाण्डित्य से सन्तुलन हो गया है। मेरे हास्य बहुत नुकीला और सोद्देश्य तो नहीं है किन्तु उसमें कहीं-कहीं व्यङ्ग्य से छींटे अवश्य हैं,

जैसे 'डॉक्टर स्तोत्र' में डॉक्टरों पर, यद्यपि वे मेरे ऊपर वैयक्तिक रूप से कृपा करते हैं, 'तुलसी के जीवन पर नया प्रकार' में वर्तमान आलोचकों पर, 'सम्पादक राज' में सम्पादकों पर, 'जय उलूक राज' में लक्ष्मी जी के कृपा पात्रों पर और 'अक्कल बड़ी कि भैंस' में सैद्धान्तिक लोगों तथा 'पृथ्वी पर कल्प वृक्ष' में विज्ञापनबाजों पर व्यङ्ग्य हैं। ये निबन्ध अधिकतर शुद्ध विनोद के रूप में जीवन की ऊब दूर करने को लिखे गये हैं। इस प्रकार कभी-कभी अनावश्यक भी प्रयतन आवश्यक वस्तु बन जाता है।

गम्भीर निबन्धों में कई कोटि के हैं किन्तु उनमें अधिकतर राष्ट्रीय भावना से लिखे गये हैं और कुछ मेरे जीवन दर्शन से सम्बन्धित है। मैंने राष्ट्र की कोई सक्रिय सेवा तो नहीं की है किन्तु राष्ट्र के प्रति गर्व की भावना रखते हुए उसके उत्थान में प्रसन्न और उसकी अवनति में दुखी अवश्य हुआ हूँ। यद्यपि मैं लेटा अपने रोगों के कारण हूँ तथापि शहर और राष्ट्र की चिन्ता अवश्य रही है। राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति कार्यों में नहीं हुई तो क्या इन निबन्धों में अवश्य हुई है। इस संग्रह में मेरी सभी शैलियों के प्रतिनिधिस्वरूप सभी निबन्ध आ गये हैं। मैंने इन निबन्धों द्वारा संसार के संघर्ष को कम कर तथा शान्ति और साभ्य की भावना के प्रसार का भी टिटहरी प्रयत्न किया है; यदि दो चार अगस्त्य ऋषि से साहसी वीर निकल आये तो युद्ध और परस्परिक वैमनस्य के बढ़ते हुए अर्णव को सोख लें या इस दिशा में आंशिक सफलता भी प्राप्त कर लें तो मैं अपने को धन्य समझूंगा। मैं भली प्रकार जातना हूँ कि चूहे की खाल से दमामा नहीं मढ़ा जाता और दो चार लेखों से जन प्रवृत्ति में सहज में अंतर नहीं पड़ता फिर भी मुझे विश्वास है कि सद्भावनाएँ भी निष्फल नहीं जातीं, इसी विश्वास से यह पुस्तक मैं अपने पाठकों को सौंपता हूँ।

गोमती-निवासी  
दिल्ली-दरवाजा, आगरा  
माघ शुक्ला ४ सं०\_२०५२



विनीत  
गुलाबराय

## निबन्ध-सूची

विषय	पृष्ठ
<b>उथले</b>	
१—डॉक्टर स्तोत्र (ठलुआ क्लब से)	१
२—गोस्वामी जी के जीवन पर नया प्रकार (सा० हिन्दुस्तान से)	५
३—अक्कल बड़ी कि भैंस (दौ० हिन्दुस्तान से)	१०
४—चोरी एक कला (मेरी असफलताएँ से)	१४
५—पृथ्वी पर कल्प वृक्ष (नोंक झोंक से)	१९
६—जय उलूक राज (नोंक झोंक से)	२३
७—सम्पादक राज (मतवाला से)	२५
८—मेरे एक शिकारपुरी मित्र (मेरी असफलताएँ से)	२७
९—सांवलिया बीज वाला (नोंक झोंक से)	३०
१०—भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भजन मूढ़ मते	३४
<b>गहरे</b>	
११—सौंदर्योपासना और कुरूपता (फिर निराशा क्यों से)	३७
१२—संघर्ष और उसके शमनोपाय (सा० हिन्दुस्तान से)	४१
१३—मानवता के आधार स्तम्भ (सा० हिन्दुस्तान से)	५४
१४—राष्ट्रीयता और उसके बाधक (सा० हिन्दुस्तान से)	५९
१५—वर्तमान असन्तोष के कारण (नव भारत टाइम्स से)	६५
१६—स्वतन्त्रता कके बाद (मध्य भारत सन्देश से)	६९
१७—जीवन और दर्शन (आजकल से)	७६
१८—हिन्दू आदर्शों के अनुसार संतुलित जीवन (कल्याण से)	८२
१९—साहित्य और राष्ट्र निर्माण (नया भारत से)	८८
२०—हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप निराधार (सा० हिन्दुस्तान से)	९१
२१—लेखक और प्रकाशक (प्रकाशन समाचार से)	९९
२२—अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल मथुरा अधिवेशन के अवसर पर सभापित पद से दिया हुआ अभिभाषण	१०४

---

---

उथले

---

---

## डॉक्टर-स्तोत्र

नमो भगवते डाक्टराय !

भगवान् ! कमलयोनि लोकपितामह ब्रह्माजी ने मनुष्य की कल्पना करने से पूर्व आपका निर्माण किया, क्योंकि जहाँ वह जन्म से पूर्व माता के स्तनों में दुग्ध पैदा कर देते हैं, वहाँ क्या वह इस बात को भूल जाते कि मनुष्य को अपने जीवन में ऐसे व्यक्ति की सहायता लेनी पड़ेगी, जो कि उसका जन्म से नहीं, वरन् गर्भ से ही साथ दे और मरण पर्यन्त उसकी सेवा करता रहे। जब तक आपकी अनुचरी धात्री द्वारा नाभी-नाल का विच्छेद न किया जावे, तब तक बालक अपनी माता के अंकस्थ नहीं होता। मनुष्य चाहे मर भी जाय, तब भी उनकी मृत्यु प्रमाणित करने के लिए आपके प्रमाण-पत्र की आवश्यकता रहती है। आप हमारी जाति के आजन्म हितैषी हैं, अतः आपको बारंबार नमस्कार है।

आपके अग्रह वैद्यराज से लोगों ने खूब बैर निभाया है। वेचारों को 'यमराज-सहोदर' की पदवी से विभूषित किया है। कदाचित् इसी उपहास के कारण यमराज जी ने इस देश पर पूर्ण प्रकोप प्रकट किया है और प्लेग, बेरी-बेरी आदि नवीन-नवीन रोगों का आविष्कार कर अपने सहोदर वैद्यराज की भोजनचर्या का प्रबन्ध कर दिया है। अपने जन्म धारण कर यमराज जी की कृपा का पूर्ण लाभ उठाया है। आप यमराज तथा वैद्यराज से दो बांस आगे ही निकल गए। क्यों न हो? नवयुग का प्रभाव ही ऐसा है। आजकल 'विकासवाद' के समय में आपकी बुद्धि ने भी पूर्ण विकास पाया है। श्रीशारदा देवी की कृपा से मारण, मोहन, वशीकरण, आकर्षण, स्तम्भन, उच्चाटन आदि सभी विद्याएँ सिद्ध हो गई। मारणमंत्र का पाठ तो आपको प्रवेशिका ही में पढ़ा दिया जाता है। मुर्दे चीरते-चीरते आपका हृदय इनता कठोर बन जाता है कि मृत्यु आपके लिए एक साधारण-सी बात हो जाती है। शव-शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता। आप योगी की भाँति स्थिर और अचल रहकर फीस की बातचीत करने में जरा भी संकोच नहीं करते। आप शल्य-प्रहार से प्राणों को भीतर से खींच लाने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। यदि प्राण ही बेशर्मी कर मनुष्य कंकाल के अस्थि-पंजर में बने रहने का दुस्साहस करे, तो आपका क्या दोष? मारण के लिए आप कभी-कभी गोली का भी प्रयोग करते हैं और उसका लक्ष्य प्रायः सफल भी हो जाता है।

आपकी मोहन-कला के आगे बंगाल का जूद सामना नहीं कर सकता। 'क्लोरोफार्म' की गंध देते ही आपका मंत्र पूर्णतया सफल हो जाता है। क्या मनुष्य, क्या



जानवर, काष्ठ के समान बन जाता है। उसको काटिए-छांटिए, वह आपके आतंक से चूँ भी न करेगा। मंत्र मुग्ध इसी को कहते हैं। पंडित लोग तो पराए धन को 'लोष्टवत् समझते हैं' आप तो पराए धन के अतिरिक्त पराए शरीर को भी 'लोष्टवत्' बना देते हैं। यह आपकी सम्मोहन-कला है। 'वशीकरण' तो आपके बाएँ हाथ का खेल है। आपके सब रोगीगण सदा वशीभूत हो आपके इच्छानुवर्ती रहते हैं। आपके प्रभाव को कानून तक ने भी जबरदस्त माना है। आपके सामने रोगियों की इच्छा आपकी इच्छा में विलीन हो जाती है। रोगियों का संकल्प आपके श्रीमुख से निकले हुए वचनों की वाट जोहता है। आप भगवान् की भाँति अपने रोगियों को दारुयोषित की नाँई नचाते हैं, जिसका चाहे भोजन बंद कर देते हैं और जिसको चाहें कमरे के भीतर कैदी बना देते हैं। जिस प्रकार पुलिसमैन की अँगुली साठ मील की चाल से भागने वाली मोटरकार की गति का अवरोध कर देती है, उस प्रकार आपका एक वाक्य बड़े-बड़े सम्राटों तथा महारानियों एवं उच्च पदाधिकारियों और लेखक तथा देश-भक्तों के प्रोग्राम को बात की बात में बदल देता है। जिसको चाहें कसौली और शिमला भेज देते हैं और कभी-कभी आगरा एवं बरेली भेजने के लिए भी प्रमाण-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देते हैं। आपके रोगी आपकी आज्ञा से ही उठते-बैठते और भोजन-पान व वार्तालाप तक करते हैं। यदि आप मौन-व्रत धारण करने का आदेश दे दें, तो आपके रोगियों के अधर-पल्लव एक दूसरे से कदापि अलग न हों। इससे बढ़कर और क्या वशीकरण हो सकता है? यदि किसी को आपकी आकर्षण शक्ति का परिचय लेना हो, तो थोड़ी देर के लिए अस्पताल की यात्रा कर, वह अपना जीवन सफल कर ले। उस समय गीता में वर्णित भगवान् के विराट् रूप का स्मरण हो जाता है --

यथा नदीनां बहवोऽभ्युवेगाः समुद्रमेवाभिभुखा द्रवन्ति ।  
 तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥  
 यथा प्रदीपं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।  
 तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

शहर-का-शहर सिमिटकर अस्पताल के द्वाररूपी मुख में प्रातःकाल से ही प्रवेश करने लगता है। यह सब आपकी महती आकर्षण-शक्ति का प्रभाव है।

आप अपने प्रयोगों में स्वयं काल का भी स्तंभन कर देते हैं। वैदिक काल में तो 'शतायुर्वैपुरुषाः' कहकर मनुष्य की आयु को एक शतक में ही संकुचित कर दिया था, किन्तु आजकल अपने ओषजन और 'मंकीग्लांड्स' के प्रयोग द्वारा मनुष्य के जीवन को अनंत सिद्ध कर दिया है। स्तंभन द्वारा मनुष्य-जाति की रक्षा का भार आपने अपने सिर पर ही ले लिया है। प्लेग, कालरा और चेचक आदि घोर विकराल रोगों से अभयदान देने के अर्थ टीका की प्रथा का आविष्कार किया है। जिस प्रकार

वैष्णवों के अंग पर शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि चिन्हों को अंकित देख यमदूत भागते हैं, उसी प्रकार टीका चक्र को देखकर रोग भागते हैं, कभी-कभी प्राण-पखेरू भी उड़ भागते हैं।

आप अपने प्रयोगों के द्वारा रोग को दूर ही से स्तंभन कर देते हैं। इसी स्तंभन कार्य के वश स्वस्थ पुरुषों के घर भी आपकी दाल गल जाती है। आप तुरन्त ही Prevention is better than cure ( अर्थात् रोग को दूर रखना, इसके अच्छे होने से श्रेयस्कर है ) की शरण लेते हैं।

आप अपने रोगी का घर-बार से उच्चाटन करा, उसका धन संपत्ति से भी उच्चाटन करा देते हैं। कहीं तो रुधिर की परीक्षा करते हैं और कहीं मूत्र की परीक्षा और कभी श्लेष्मा की--सभी में धन को पानी की भांति बहाना पड़ता है। एक्सरे की भेदक किरणों के बिना तो अब रोग परीक्षा ही नहीं होती। प्रतीक्षा ही नहीं करनी पड़ती वरन धन से भी हाथ धोने पड़ते हैं। एक्सरे से भी बढ़कर 'इलेक्ट्रो कार्डोग्राम' परीक्षा चली है, जिसमें रोगी के हाथ-पैरों को विद्युत डोरियों के नागपाश में बाँध देते हैं। इसमें सोलह के दूने बत्तीस रुपये और दस रुपये ऊपर से परामर्श शुल्क (कन्सल्टेशन फी) के देने पड़ते हैं। आपकी सारी वैज्ञानिक कला लक्ष्मी जी के प्रादुर्भाव करने में व्यय हो जाती है। आखिर आप हैं तो लक्ष्मी जी के भाई ही।

यदि रोगी धन से मोह करे तो प्राणों से हाथ धो बैठे। सुस्वाद भोजन से उच्चाटन करा देना तो सहज ही काम है। जहाँ रोगी का धन से उच्चाटन होता है, वहीं आपकी प्रतिभा जागृत होती है। यदि रोगी को बहुत दिनों तक आपकी सेवा का सौभाग्य मिला, तो उसका मन संसार के सभी सुखों से उचट जाता है। उसको सभी वस्तुएं भी त्यागनी पड़ती हैं। उसको केवल एक आप ही के दर्शनों की चाह रहती है और वह सदा इस बात की खोज में रहता है कि कब आप ज्ञान-सागर में गोता लगाकर उसके हित के लिए दो चार अमूल्य रत्न निकाल लें।

भगवन्! इस षट् प्रयोग के अतिरिक्त आपकी अनंत कलाएं और विभूतियाँ हैं। आप बात की बात में बुद्धे को जवान और जवान को बुद्धा बना देते हैं, जिस प्रकार बैल के खरीदने के पूर्व दाँत देखे जाते हैं, उसी प्रकार नौकरी के पूर्व उम्मीदवार लोग आपकी परीक्षा के लिए भेजे हैं। बिना आपके प्रमाण-पत्र रूपी टिकट लिए हुए वह लोग नौकरी की रेलगाड़ी में सवार नहीं हो सकते। आपकी महिमा इतनी बढ़ी हुई है कि अदालतें भी आपसे डरती हैं और आपके मिथ्या भाषण को भी उपेक्षा-दृष्टि से देखती हैं। आपकी रिश्वतें फीस के गौरवशाली नाम से प्रख्यात हैं। आप साधारण जल को बहुमूल्य औषधि बना, उसमें से लक्ष्मी देवी का प्रादुर्भाव कर समुद्र-मंथन का नित्य अभिनय करते हैं। वैसे तो स्वयं धन्वन्तरि रूप से

( ४ )

आपका भी प्रदुर्भाव लक्ष्मी जी के साथ हुआ था। धन्वन्तरि अमृत का घट लिए हुए निकले थे। आपकी दवाइयों की पेट्टी पीयूषधार से कम नहीं है। आप अपने ही में धन्वन्तरि एवं चंद्रमा दोनों के व्यक्तित्व को सम्मिलित किए हुए हैं। चंद्रमा को औषधियों का पति कहा है। इसी से उनका नाम सुधाकर पड़ा। आप भी सुधाकर हैं, क्योंकि अमृतमयी औषधियाँ आपके कर कमलों में निवास करती हैं। वास्तव में आपके 'कर' ही सुधा-रूप हैं। सुरादेवी आपकी सहज भगिनी हैं, इसलिए आपकी प्रत्येक औषधि में उसका प्रयोग होता है। लक्ष्मी देवी पर तो आप कृपा करते ही रहते हैं। बिना उनके 'सुफल' बोले आपके मन्त्र तथा औषधि और रोगी की 'हाहा विनती' सब निष्फल हो जाती है।

आपकी औषधियों में विष (Poison) का भी खूब प्रयोग रहता है। क्यों न हो। विष भी तो चौदह रत्नों में से एक है। इतना ही नहीं, वह तो सब में अग्रगण्य हैं। आप विष द्वारा अमृत का काम करते हैं। सुरासुर दोनों को ही सन्तुष्ट रखते हैं। आप सदा डाक के घोड़े पर सवार रहते हैं और 'टर' 'टर' किया करते हैं। इसीलिए कलियुग में आपका नाम डाक्टर पड़ा।

पीयूषपाणि!

आपके गुणानुवाद गाते-गाते जिह्वा थक जाती है। अब मुझे अपनी शरण में ले, यह वर दीजिए कि मेरा बनाया हुआ यह 'डाक्टरस्तोत्र', जो नित्य प्रातःकाल पाठ करे, उसको कभी व्याधि-व्यथा न आवे। वह इस लोक में सुख तथा परलोक में शान्ति प्राप्त कर मोक्ष का भागी बने। केवल 'स्तोत्र' के साथ आपकी दक्षिणा भक्तिपूर्वक अर्पण करता रहे, तो इस स्तोत्र का महत्व अवश्य पूर्ण होगा।

डाक्टर स्तोत्रममलं श्रद्धया पठेद्योनरः।  
रोगास्तस्य विनश्यन्ति तमः सूर्योदये यथा॥



## गोस्वामी जी के जीवन पर नया प्रकाश

एक दिन मुझे डाक में एक लिफाफा मिला। उसमें पत्र के स्थान पर चौथाई फूल्सकेप आकार का एक परचा था, जिस पर यह शीर्षक लिखा--‘गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन पर नया प्रकाश’। यह दोनों ओर महीने और कुछ-कुछ अस्पष्ट लिखावट में था, जिसमें सर्वश्री चन्द्रवली पाण्डे, डॉक्टर नगेन्द्र, अज्ञेय, रामनरेश त्रिपाठी की लिपियों का आकार-साम्य था। मालूम नहीं वह लेख उन सज्जनों में से किसने लिखा था और वह कौन-सा भाग्यवान अखबार था जिसके लिए वह लिखा गया था। हिन्दी-सांसर उस खोज से वंचित न रहे, इस कारण उसको अविकल रूप से किन्तु आवश्यक संशोधनों और स्थान पूर्तियों के साथ छपवा रहा हूँ। जिन महाशय का यह लेखा हो वह इससे अपने निबन्ध की पूर्ति कर लें और हो सके तो उसे पूरा प्रकाशित करा दें।

### नाना के घर

यह मनोविश्लेषण शास्त्र का सिद्धान्त है कि हमारी जिह्वा पर प्रायः वे ही शब्द आते हैं जिनसे वाच्य वस्तुओं अथवा जिनसे इंगित पुरुषों का अचेतन मन में सम्बन्ध रहा हो। गोस्वामी तुलसीदासजी ‘बारे में ललात बिललात’ फिर थे और चार ही चनों को धर्म-अर्थ-मोक्ष-रूपी पुरुषार्थ मानते थे--‘जानत हों चार फल चार ही चनक को।’ माँ-बाप मर चुके थे, बेचारे करते भी क्या! उनकी धाय ने उन्हें नाना के यहाँ पहुँचा दिया। वहाँ रहे और “नाना पुराण निगमागम” का अध्ययन किया। इसके प्रमाण में हमको तुलसीदासजी के मन में कृतज्ञता के साथ बसे हुए नाना शब्द का अन्तर्संक्षय मिलता है। देखिए--“नाना-पुराण-निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि”। एक ही स्थान में गोस्वामीजी ने ‘नाना’ शब्द का प्रयोग नहीं किया है--“आखर अरथ अलंकृत नाना”--वरन् ‘नाना’ शब्द का प्रयोग नाना स्थलों पर किया है। एक स्थान में तो उन्होंने नाना को मंगलमूल कहा है--“मंगलमूल सगुन भए नाना” (बालकांड ३७१वें दोहे के पश्चात् चौथी चौपाई का चौथा चरण)। यह पद्यांश ‘अभिज्ञान-शाकुन्तल’ के चौथे अंक के चौथे श्लोक के बराबर महत्व रखता है। ‘नाना’ के और भी प्रयोग आते हैं--‘कहत चले पहरे पट नाना’, ‘देव दनुज भूपति भट नाना’, ‘चढ़ै विमानन नाना यूथा’, ‘रचना सकल अलौकिक नाना’ आदि।

ये उदाहरण स्थालीपुलाकन्यायेन अर्थात् हाँडी अथवा थाली के भात के एक

चावल की भाँति बालकाँड से ही दिए गए हैं। आरण्यकाँड की तो एक चौपाई की अर्द्धाली में 'नाना' शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है-- 'नाना बाहन नानाकारा, नानायुधधर घोर अपारा' ( २० वे दोहे के पश्चात् )।

इस प्रकार 'रामचरितमानस' में ७६ बार 'नाना' शब्द आया है। लोगों ने 'रामचरितमानस' की शब्द-सारिणियाँ बनाई, उन पर उन्हें उपाधियाँ भी मिलीं, किन्तु उनसे पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया। उनमें अन्तर्निहित व्यंजनाओं का स्पष्टीकरण नहीं हुआ। गोस्वामीजी की शब्द-सूची का इस दृष्टि से अध्ययन अति वाँछनीय है।

### राजापुर के निवासी

साहित्यिक क्षेत्र में सोरों और राजापुर का विवाद कुछ कटुता की हद तक पहुँचता जाता है, क्योंकि इनके स्मारक को मिलने वाली निधि का रज-राजस स्पर्श भी हो गया है। कबीर को जिस प्रकार सभी सम्प्रदायों ने अपनाया उसी प्रकार तुलसीदासजी को भी कोई नहीं छोड़ना चाहता है। तुलसीदासजी को प्रगतिवादियों ने भी--जो कि राम-भक्ति से शशश्रृंग की भाँति अछूत रहे हैं--अपनाया है क्योंकि उन्होंने दरिद्रता के दसासन से युद्ध किया था। इसी प्रकार तुलसीदासजी को न राजापुर वाले छोड़ना चाहते हैं और न सोरों वाले। किन्तु जैसा यूनानी कवि होमर के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब वह जीवित था तब तो उसे रोटी की भीख माँगनी पड़ी, किन्तु जब वह मर गया तब तीन नगरों ने उसे अपना नागरिक होने का दावा किया--वैसा ही गोस्वामीजी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

तुलसीदासजी का जन्मस्थान राजापुर मानने वालों की एक उक्ति यह है कि वे एक तापस का भेष बनाकर अपने इष्टदेव के साथ, उन्हें बुन्देलखंड की सैर कराने के लिए, मानसिक रूप से हो गए थे--'तेहि अवसर तापस इक आवा, तेज पुंज लघु वयस सुहावा।' इस उत्साह में गोस्वामीजी अपने को तेजपुंज भी कह गए और यह भी भूल गए कि उनकी उस समय 'लघु वयस' नहीं थी। खैर, इससे बढ़कर तो उनके बुन्देखंडी होने का प्रमाण यह है कि गोस्वामीजी को विन्ध्यवासी उदउसी लोगों की यौन-वासना की तृप्ति की बड़ी चिन्ता थी। देखिए --

विन्ध्य के वासी उदउसी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।  
गौतम तोय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे।।  
हैं हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।  
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन कौं पगु धारे।।

कहा नहीं जा सकता कि इसमें तुलसी की भक्ति-भावना अधिक है या यौन-भावना। भक्त तो कहेंगे कि इसमें भगवान राम की चरण धूलि की महिमा कीव्यंजना है और फ्रायड कहेंगे कि यह यौनभावना है। दोनों भावना एक ही शक्ति

के दो रूप हैं। फ्रायड के अनुसार भक्ति काम का उन्नत रूप है। इसमें तुलसीदासजी ने अपना तादात्म्य विन्ध्य के वासियों से किया है।

एक स्थान में तो उनके मुँह से स्पष्ट रूप से राजापुर निकल गया था-- रूप बदलने के लिए शब्दों का स्थानान्तरण हो गया है--

**प्रविसि नगर कीजै सब काजा, हृदय राखि कोसलपुर राजा।**

राजापुर को कौशल से छिपाने के लिए पुर राजा लिख दिया। जादू वही है जो सिर पर चढ़कर बोले।

तुलसीदासजी 'तनननोजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के माननेवाले थे, इसलिए उन्होंने राजापुर को हनुमान जी द्वारा हृदय से स्मरण करवाया है, ठीक उसी प्रकार उन्होंने अपने गुरुवर नरहरिदास का--'लंकहि चले सुमिर नरहरी'। हृदय राखि और सुमिर एक दूसरे के पर्याय हैं। राजापुर का पुरराजा हो जाना मनोविज्ञानाचार्य फ्रायड के बतलाए हुए स्थान-विपर्यय (Displacement) के सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण है।

इस लेख में मनोवैज्ञानिक संतुलन नहीं जाएगा यदि विपक्ष की उक्ति की अवहेलना की जाए। सोरों पक्षवालों का कथन है कि तुलसीदासजी सोरों में मुसलमानों के मुहल्ले में रहते थे। इसका उन्होंने प्रतीकात्मक संकेत सुन्दरकांड में विभीषण के मुँह से कराया है--'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी, जिमि दसनन्हि महं जीभ बिचारी।' तुलसीदासजी की भी मुसलमानों के मुहल्ले में ऐसी ही दशा थी। दाँत काटनेवालों के प्रतीक स्वरूप थे। राज्य-भय से वह मुसलमानों के विरुद्ध नहीं लिख सकते थे। इसलिए उन्होंने प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। इसकी पुष्टि नीचे के पदों से भी होती है--

**माँगि को खैबो मसीत को सोइबो।**

(सोरों में जहाँ तुलसीदासजी का घर है वहाँ मसीत अर्थात् मसजिदें हैं )

जाति के कुजाति के पेट आगि बस खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो।

(कुजाति से मुसलमानों की ओर संकेत किया जाता है।)

### **हुलसी नानी थी**

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि तुलसीदासजी अपने नाना-नानी के यहाँ पले थे। हुलसी तुलसीदासजी की न माता थी और न पत्नी, वरन् उनकी नानी थी जिन्होंने उन्हें गोद लिया था। तभी तो उस प्रसिद्ध दोहे में गोद शब्द का स्पष्ट उल्लेख है--

गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।

( ८ )

तुलसी को गोद लिए ही हुलसी-हुलसी फिरती थी और उसकी अभिलाषा थी कि कहीं तुलसी-सा सुत होता। तुलसी के हृदय में असली कृतज्ञता न मता के प्रति थी और न स्त्री के प्रति। माता-पिता को तो उन्होंने उलाहना ही दिया है-- 'माता-पिता जग जाय तज्यो, विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई,' 'भयो परिताप पाप जननी जनक को (कवितावली); 'स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक ओचक उलटि न हेरो' (विनय-पत्रिका)। पत्नी ने भी उन्हें त्याग ही दिया था। अपनाया तो उन्हें नाना-नानी ही ने। तभी रामकथा को हुलसी की उपमा दी है--

रामहिं प्रिय पावन तुलसी-सी, तुलसी हित हिय हुलसी-सी।

### प्रगतिवादी थे

तुलसीदासजी रामभक्त अवश्य थे, किन्तु पहले वह प्रगतिवादी थे, क्योंकि उन्होंने भौतिक मूल्यों का अधिक ध्यान रखा है। उन्होंने अपने समय की बेकारी और भुखमरी का बड़ा सजीव वर्णन किया है।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि  
बनिक को न बनज न चाकर को चाकरी,  
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोचबस,  
कहैं एक-एकन सों कहाँ जायं का करी ?

पेट की आग को उन्होंने बड़वाग्रि से भी अधिक प्रबल माना है-- 'आगि बड़वाग्रि तें बड़ी है आगि पेट की।' वह जीवन की वास्तविकताओं और विषमताओं से भली-भाँति परिचित थे-- 'चाहै चारुचीर पै लहै न टूक टाट को', 'दुनी दुख दोष दरिद दली है'। गोस्वामीजी ने उस जमाने की राज-सत्ता सामन्तशाही के विरुद्ध आवाज उठाई थी-- 'राज समाज कुसाज कटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।' तुलसी ने दारिद को दसानन कहा है और उनको दुनिया की भी फिकिर थी-- 'दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु ! दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी' (कवितावली, उत्तरकांड ९७)। उनको 'राटी लूंगा' की पूरी फिकिर थी-- 'रोटी लूंगा नीके राखैं, आगे हूँ को वेद भाषैं भलो हूँ है तेरो, ताते आनन्द लहत हौ' (विनयपत्रिका, ७६)।

### मानसिक ग्रंथियों के शिकार

तुलसीदासजी में गरीबी की तो हीनता ग्रंथि थी ही, स्त्री की डांट-फटकार से भी उनके मन में एक कुण्ठा उत्पन्न हो गई थी। इसीलिए उन्होंने कई जगह गाँठों, ग्रंथियों का अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है-- 'ऐसी हठ जेसी गांठि पानी परे सन की'; 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई'। इन ग्रंथियों से छूटने की कठिनाई से वह भली भाँति परिचित थे।-

वे कागज के परचे यहीं पर खतम हो गए थे। उनको मैं सरहाने रखकर सो

( ९ )

गया। स्वप्न में गोस्वामीजी के नागरी प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित 'रामचरितमानस' से प्रथम पृष्ठ पर दिए हुए चित्र के अङ्कित भव्य रूप के अनुरूप दर्शन मिले। उन्होंने मुसकराते हुए कहा--

“आलोचकों ने मेरी खूब खींचातानी की है। न मैं प्रगतिवादी हूँ और न छायावादी। मैं तो सभी नाते राम के ही सम्बन्ध से मानता हूँ--'नाते नेह राम के मनियत सुहृदय सुसेव्य जहाँ लौं।' विन्ध्य के वासियों की चिन्ता मुझे न थी, मुझे तो अपने इष्टदेव की चरणरज की महिमा गानी थी। उसी के लिए मैंने केवट प्रसंग लिखा था। मुझे प्रगतिवादी तो वैसे ही घसीटते हैं। वे तो रामभक्ति से बिलकुल अछूते हैं। लेकिन मैं तो सबको सियाराममय जानकर 'करोँ प्रणाम जोरि जुग पानी।' मैंने दरिद्रता की बुराई अवश्य की है किन्तु राम की दुहाई देन के लिए। मेरी तो सब समस्याएँ राम के प्रताप से हल हो गईं। प्रगतिवादी इस महौषधि को कब स्वीकार करने लगे! नाम के प्रताप से मुझे तो बबूल और बहेरे में से आम के फल मिल जाते थे--

फिरयो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।

नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौँ बबुर बहेरे ॥

इसी समय मेरी अलार्म टाइमपीस की कर्णकटु झंकार से मेरी आंख खुल गई और मैं तुलसीदासजी के पूर्ण स्पष्टीकरण से वंचित रह गया। फिर मैंने एलार्म टाइमपीस के आविष्कारक को जी भर के कोसा। और लोग सो कर खोते हैं मैंने जाग कर खोया।

---



## अक्कल बड़ी कि भैंस ?

जब मैंने बचपन में अपने पूज्य ताऊजी से--जो लिखित साहित्य में तो वाजिबी सा ज्ञान रखते थे किन्तु लोक साहित्य के अच्छे ज्ञाता और थोड़े-बहुत जिन्दादिल भी थे--पहली बार यह कहावत सुनी थी तब पहले तो मुझे इस तुलना पर आश्चर्य हुआ था ( अपने मन में 'अमूर्त की मूर्त से तुलना कैसी ?' के शब्द तो मेरे पास न थे क्योंकि न तो उस समय छायावाद का जन्म हुआ था और न छायावाद की कला पर किसी पुस्तक का प्रादुर्भाव हुआ था) और मेरी सहज प्रतिक्रिया यही हुई थी कि भैंस बड़ी है। अब बड़े होने पर आश्चर्य भावना तो मिट गई है, क्योंकि अब तो मूर्त की भी तुलना अमूर्त से होने लगी है-- 'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल'-- और अमूर्त की मूर्त से तुलना होती है--'जीवन की जटिल समस्याएँ बढ़ी जटा सी कैसी ?'-- किन्तु अब भी मुझसे पूछा जाय तो मैं यही कहूँगा कि भैंस बड़ी है। अक्कल तो तभी काम करती है जब भैंस का दुग्ध प्राप्त होता है। आजकल के नव युवकों को जैसे सेफ्टी रेजर और चाय का कप प्रातः स्मरणीय है उसी प्रकार मुझे भी चाय के साथ शुद्ध दुग्ध के एक-दो कप भगवन्नाम की भाँति स्मरणीय होते हैं। मैं चाय में दूध को चाय का रंग बदलने के लिए नहीं डालता वरन् दूध को श्वेत से क्रीम कलर में बदलने के अर्थ एक या दो तोले चाय (चाय का पानी) डाल देता हूँ। दूसरे लोग चाय में दूध डालते हैं, मैं दूध में चाय डालता हूँ।

कुछ गो भक्त लोग भैंस के दूध के सम्बन्ध में कहते हैं कि उससे बुद्धि मोटी और मन्द हो जाती है। यह मेरे लिये वास्तव में वरदान स्वरूप होता है। मुझे एक प्राचीन आचार्य महोदय का स्मरण हो आता है जो दस वर्ष के निरन्तर परिश्रम करने पर भी एक पुस्तक समाप्त नहीं कर पाये थे। वे गाय का दूध पीते थे और उनकी बुद्धि उत्तरोत्तर कुशग्र होती जाती थी। वे रोज सुबह को पिछले दिन के लिखे हुए में दोष निकालकर उसे अग्निदेव के अर्पण कर देते थे। उनके शिष्य उनकी इस प्रवृत्ति से बड़े परेशान थे। उन्होंने वैद्यों से सलाह ली और उनके परामर्श से गुरुदेव को भैंस का दूध पिलाना शुरू किया। उनकी बुद्धि दिन प्रतिदिन मन्द होती गई। फलस्वरूप वे अपने पिछले लिखे की सराहना करने लगे और उसके संरक्षण में तत्पर हो गये। वैसे भी मैं प्रायः 'कालानां बोधाय' लिखता हूँ। उसके लिए औसत दर्जे की बुद्धि वांछनीय है। उसी भैंस के दूध की बदौलत मैं अपने पिछले लेखों के संरक्षण में समर्थ हो सका।

भैंस के दूध के विरुद्ध दूसरी उक्ति यह है कि वह गाय के दूध की अपेक्षा

गरिष्ठ होता है। किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि गाय का सुपाच्य दूध पीते-पीते ही उनका मैदा कमजोर हो गया है। जैसे आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया है-- 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'-- वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि 'नायं महिषिपयः बलहीनेन पाच्यः'। इस वाक्य में चाहे व्याकरण और छन्द की अशुद्धि हो किन्तु बात सोलह आना ठीक है। व्याकरण की अशुद्धि के लिए तो मैं श्री शंकराचार्य के इस अमर वाक्य का स्मरण कर लेता हूँ कि 'प्रापते सन्निहिते मरणे नाहि नाहि रक्षति दुंक्रिय करणो।' व्याकरण की शुद्धि का कार्य तो मैंने श्री किशोरीदास वाजपेयी के लिए छोड़ रखा है। रही छन्द की बात, उसके लिए मैं कहानी के प्रसिद्ध जाट का स्मरण कर लेता हूँ जिसने 'जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट' के उत्तर में कहा था कि 'तेली रे तेली तेरे सिर कोल्हू' और तेली के यह कहने पर कि तुक तो मिली नहीं उसने उत्तर दिया था कि तुक न मिली तो क्या हुआ, बोझों तो मरेगा। मैं भी छन्द की परवाह नहीं करता। वरन् बात के बोझ की चिन्ता करता हूँ। इसलिए कवि न बनकर गद्य लेखक बन गया। हमारे प्रगतिवादी भाई भी तुक और कला की अपेक्षा बात के वजन की अधिक परवाह करते हैं।

भैंस भी इसी प्रगतिशीलता का प्रतीक है। उसकी इस प्रगतिशील प्रकृति का परिचय लोकमत से पुष्ट इस कहावत में मिलता है--'भैंस के आगे बीन बजाई वा जानी मेरी सानी आई।' वह सौन्दर्यगत मूल्यों की अपेक्षा आर्थिक ओर भौतिक मूल्यों की अधिक परवाह करती है। बीन के बजने से उसका पेट नहीं भरता। भैंस का दूध मनुष्यों को प्रगतिशील बनाता है, उनको भार वहन करने की और साथ ही अधिक संघर्ष करने की क्षमता प्रदान करता है। भैंस की भाँति किसी बात पर अड़ जाना भी भैंस के दूध से आता है। अक्कल के मार्ग पर चलते-चलते मैं रोग ग्रस्त हो गया और यदि मुझमें रोगों के आक्रमण से संघर्ष करने की शक्ति आई है तो भैंस के दूध की ही बदौलत। फिर मैं कैसे कहूँ कि अक्कल बड़ी है ?

भैंस अक्कल के साथ ही तुला में नहीं रखी जाती वरन् काले अक्षरों के साथ भी उसकी उपमा दी जाती है। निरक्षर लोगों के लिए तो केवल आकार साम्य में काले अक्षर भैंस के बराबर हैं किन्तु साक्षर लोगों के लिए काले अक्षर वास्तव में भैंस के सदृश कामधेनु सिद्ध होते हैं। भैंस वास्तव में कामधेनु है। उससे दूध और घी दोनों की समस्या हल हो जाती है। भैंस के सदृश ही काले अक्षर मेरी समस्याओं का हल करते रहते हैं। आजकल का विज्ञान अब कृत्रिम मक्खन का भी उत्पादन कर रहा है और वह असली मक्खन से भी अधिक स्वादिष्ट होता है--फिर बाजार के घी का कौन विश्वास ? इन्द्र के यहाँ चाहे कामधेनु रहती हो किन्तु मठे का टोटा ही रहता था-- 'तंक्र शक्रस्य दुर्लभम्।' इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ?

( १२ )

तुलसीदास जी ने पहले गाय पाली थी तभी वे छाछी को ललात रहते थे और जब उन्होंने भैंस पाल ली तब वे सौंधे दूध की मलाई को भी गुस्सा करके खाने लगे थे। यहरहस्य बाबा बेनी माधवदास ने नीचे के छन्द की व्याख्या करते हुए बतलाया था।

‘छाछी को ललात जे ते राम नाम के प्रसाद,  
खात खुनसात सौंधे दूध की मलाई है।’

सौंधे दूध की मलाई सिवा भैंस रखने के अन्य प्रकार से दुर्लभ है। तुलसीदास जी के अवचेतन मन में राम नाम बसा हुआ था इसलिये भैंस के स्थान में राम लिख गये।

साहित्य में यद्यपि गाय और घोड़ों को ही अधिक महत्व दिया गया है और भैंस उर्मिला और यशोधरा की श्रेणी में तीसरी उपेक्षिता कही जा सकती है तथापि स्वनामधन्य कवियों ने, जिनका नेतृत्व कवि-कुलगुरु कालिदास ने किया, भैंस का तो नहीं नर भैंसों की जल में आनन्द केलि का उल्लेख किया है। दुष्यन्त का मन जब शकुन्तला के प्रेम के कारण कोमल हो गया था तब उन्होंने भैंसों के लिये खुली छुट्टी दे दी थी कि उन्हें पानी में अपने सींगों से क्रीड़ा करने दो। देखिये--

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं ।  
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमम्यस्तु ।  
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले ।  
विश्रामं लभतामिदं शिथिलज्याबन्धमस्मद्भ्रनुः ॥

( अभिज्ञान शाकुन्तल २१६ )

इसका राजा लक्ष्मणसिंह कृत पद्यानुवाद देखिये --

भैंसन देहु करन रंगरेली। सींग परिवारि कुंड बिचकेली।  
हरिनयूथ रूखन तर आवें। बैठ जुगार करत सुख पावें ॥  
शूकर वृन्द ढहर में जाई। खोद निडर मौथा जर खाई ॥  
शिथिल प्रत्यञ्जा धनुष हमारी। आज त्याग श्रम होई सुखारी ॥

हिन्दी के लेखक और कवियों में बालमुकुन्द गुप्त की लेखनी ने भैंस के सौन्दर्य का चित्रांकन किया। देखिये--

कभी वेग से फदड़क फदड़क करके दौड़ी जाती है।  
हलकी क्षीण कटि का सबको नाजुकपन दिखलाती है।  
सींग अढ़ा कर टीले में करती रेत उछाल।  
देखते ही बनता है बस उसकी शोभा का हाल ॥

इस प्रकार उन्होंने अपनी महिषी देवी को अमर बनाया। किन्तु बड़े दुःख की

( १३ )

बात यह है कि एक मित्र की भैंस मरने पर उनको उसका मरसिया लिखना पड़ा। इस प्रकार उन्होंने कवि-कर्म पूरा किया और भैंस को उसकी उचित और प्राप्य महता प्रदान की। भैंस का मरसिया देखिये--

खड़ी देखती है वह पड़िया बेचारी।  
धरी है यों ही नाँद सानी की सारी।।  
पड़ी है कहीं टोकरी और खारी।  
वह रस्सी गले की रखी है सँवारी।।  
बता तो सही भैंस तू अब कहाँ है।  
तू लाला की आँखों से अब क्यों निहाँ है ?

आधुनिक काल के व्यास जी ने इन पंक्तियों के लेखक की भैंस को 'बाबू जी की धवल भैंस' के नाम से अमर बना दिया और उसके प्रताप से 'कवियशः प्रार्थी' होने की साध में सफलता प्राप्त कर ली। इन सत्कवियों ने भैंस के महत्व को पहचाना है, उन्होंने उसमें सौन्दर्य और उपयोगिता दोनों के ही दर्शन किये हैं और साहित्य की इस उपेक्षिता के प्रति न्याय करने में समर्थ हुए हैं। भैंस के पुत्र को यम का वाहन मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्दी शिवजी के वाहन हैं। जो कोई मेरे लिखे भैंस के इस स्तवन का नित्य भक्तिपूर्वक पाठ करेगा उसको सात पीढ़ी तक यम की यातना न उठानी पड़ेगी।

---

## चोरी-एक कला

नाम बुरो पै अधीन न काहू के चोरी भली न भली सेबकाई

-मृच्छकटिक के अनुवाद से

जब मैं एम० ए० में पढ़ता था उस समय मेरा विषय तो दर्शनशास्त्र था लेकिन जौक या गालिब की शराब की भाँति गाहे-गाहे (कभी-कभी) मुँह का जायका बदलने के लिए या यों कहूँ कि मस्तिष्क को काण्ट के क्रिटिक से जिसका अध्ययन लोहे के चने चबाने से कुछ कम न था, विश्राम देने के लिए माँगी हुई या कबाड़िए से खरीदी हुई अँग्रेजी साहित्य की पुस्तकों में चञ्चु प्रहार कर लेता था। ऐसी ही किसी किताब में जो शायद कोई निबन्ध-संग्रह था 'डीक्रिन्सी' का Murder as a fine art शीर्षक लेख जिसमें हत्या को कला का रूप दिया गया था मेरी निगाह से गुजरा। उसकी भाषा राजपथ की भाँति सुगम न थी। इसी कारण किसी फुर्सत के दिन के लिए उसे चलतू खाते से बाहर उन पुस्तकों के साथ जो बेचारी अलमारी में पड़ी-पड़ी 'कबहूँ दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान' की आशावादिता को भी लज्जित करने वाले धैर्य के साथ मेरी सुदृष्टि की बात जोहा करती थीं रख दिया। किन्तु उस पुस्तके के सम्बन्ध में कान पर जूँ तक न रेंगा। जूँ रेंगता भी क्यों? ईश्वर की कृपा से धनी न होता हुआ भी मुझमें धनियों का विशेष गुण (सर पर बाल न होना) मौजूद था 'क्वचित् खल्वाट् निर्धनी'। प० रामनरेश त्रिपाठी के मत से यह गुण बाबा तुलसीदासजी में भी था क्योंकि उन्होंने कहीं लिखा है--पितरों के पिण्डों के साथ ऊन के स्थान में रखने के लिए सिर में बाल भी नहीं हैं। वैसे तो तुलसीदास जी अपनी दीनता दिखाने में ऐसी दून की हाँका करते हैं किन्तु मुझे सन्तोष है कि कम से कम एक बात में तो उनकी बराबरी कर सकूँगा।

इस विषयान्तर को क्षमा कीजिए क्योंकि तुलसीदास जी की भावों में न सही तो अभावों में बराबरी करने का मोह संवरण न कर सका। अस्तु वह लेख पढ़ा तो नहीं लेकिन उसके शीर्षक ने मेरे हृदय में स्थान पा लिया। उस समय में साहित्यिक चोरी की कला में प्रवीण तो न था लेकिन मन में इरादा यह कर लिया कि इसका कभी लाभ उठाऊँगा। उसको जैसे के जैसे हथियाने में चोरी सहज में प्रकट होने का भय तो था ही किन्तु एक और आपत्ति थी। मैं हिन्दू हूँ "हिंसयादूयतेऽतिहिन्दू" इसके अतिरिक्त मेरे पूज्य पिताजी ने वैष्णव धर्म की कुछ मूल शिक्षाओं को मेरे मस्तिष्क में चीनी औषधि के विज्ञापन की भाँति कील ठोक-ठोक कर भर दिया था। फिर 'अहिंसा परमोधर्मः' मानने वाले जैनियों के सत्संग से वह शिक्षा उसी प्रकार

पक्की हो गई जैसी हाइपो सोल्यूशन में पड़कर फोटोग्राफी की नेगेटिव प्लेट। 'करेले और नीम चढ़े' की सी बात से भी ज्यादा हो गई। बनिया और हत्या को कला का रूप दे, राम राम! सारी आत्मा विद्रोह करने लगी।

चित्त चोर और माखन चोर भगवान श्री कृष्ण की, जिनको विष्णु सहस्र नाम में 'चोरजारशिरोमणि' कहा है भक्ति के कारण मुझे चोरी को कला का रूप देना कुछ अपेक्षाकृत निरापद जैसा क्योंकि धन की चोरी तो शायद नहीं विचारों की चोरी किया करता हूँ। वैसे भी आचार्य राज शेखर ने बनियों को कवियों की श्रेणी में रखते हुए कह दिया है वणिक लोग अचौर नहीं होते हैं। नास्त्यचौर: कविजनो, नास्त्य चोरों वणिगजना:-- काव्य मोमासा-मैं दुर्भाग्यवश दोनों ही वर्गों में आता हूँ। लेखक के नाते कवि भी हूँ और बनिया होने का जनम सिद्ध अधिकार है।

यद्यपि चोरों की संज्ञा में रखे जाने से स्वाभिमान को ठेस लगती है और कभी-कभी मन में आता है कि स्वर्ग की अदालत में उनके ऊपर मान-हानि का दावा कर दूँ तथापि कुछ तो स्वर्ग जाने के भय से और कुछ आचार्यों की बात का आदर करने की उदार दृष्टि से (करीब-करीब उसी दृष्टि से जो भगवान रामचन्द्र जी ने नाग पाश की मर्यादा रखने के लिए उस बन्धन को स्वीकार किया था) मैंने इस आरोप को स्वीकार किया और जाति धर्म के पक्ष में लिखने का निश्चय किया।

यदि किसी को जेल जाने की सामर्थ्य हो तो चोरी के बराबर कोई दूसरा पेशा नहीं क्योंकि इसमें सरकार की भी मदद रहती है। वह हमेशा जेल भेजकर प्रतिद्वन्द्वियों को कम करती रहती है। वकालत की तरह यह पेशा कभी अति भीड़ (over crowdedness) के रोग से ग्रसित नहीं होता। सबसे बड़ा काम तो यह है कि चोरी की आय पर (Income tax) की भी बाधा नहीं।

इस कला में यह विशेष गुण है कि इसके अनुयायियों को प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर रश्मियों के आघात से बचे रहने में कोई कठिनाई नहीं हाती। धूप से रंग काला पड़ जाने का भय भी नहीं रहता, अभा निशा की शीतल मेचक छाया माता की भाँति रक्षा करती है। 'रैन माय सी मोहि अङ्ग लावति' और सहज में ही संयम का परम स्पृहनीय पद प्राप्त हो जाता है 'या निशाँ सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। अगर माल हाथ लगा तो कुछ दिन मौज से खाया और यदि पकड़े गये तो सम्मान पूर्वक जेल की चहार दीवारी में सुरक्षित रहकर मशक्कत और पसीने की कमाई खाई। वहाँ न तो कोई जरिए माश पूछेगा और न कोई भिखमंगा कहेगा। इस पेशे के लोगों को कभी दूसरे के आगे दीन होकर हाथ नहीं पसारना पड़ता। 'माँगिवो भलो न बाप सों, जो विधि राखे टेक'। माँगकर करे तो क्या। माँग से कुछ मिलता भी नहीं और ईमानदारी करने में कभी-कभी ऊने के दूने देने पड़ते हैं।

( १६ )

बाबा तुलसीदासजी को भी सज्जनता को कटु अनुभव हुआ होगा, तभी तो उन्होंने लिखा है 'सीदत साधु साधुता सोचति खल बिलसत, हुलसत खलई है' फिर कोई ऐसे कण्टकमय मार्ग का क्यों अनुसरण करे जिसमें सीदना पड़े ? चोरी की आमदनी को न चोर का भय ओर न चन्दे का।

चोरी को कला का रूप देने में मैं अकेला नहीं हूँ। संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध नाटककार महावि शूद्रक हम लोगों का पथ प्रदर्शन बहुत पूर्व ही कर चुके हैं। उन्होंने अपने मृच्छ कटिक नाटक में शर्विलक के मुख से चोरी को कला का ही रूप दिलाया है। शर्विलक बड़ा कला प्रिय है। वह सेंध लगोन में भी तो अपनी कला प्रियता नहीं छोड़ता है। वह नपी तुली ज्यामित के आकारों की भाँति चित्रोपम सुडौल सेंध लगाता है जिससे कि सुबह के समय सेंध देखने वाले उसकी कला की प्रशंसा करें देखिए :--

'तो कहाँ से सेंध फोड़ूँ ( भीत छूकर ) नित्य सूर्यनारायण के अर्ध का पानी पड़ते-पड़ते यहां की मिट्टी खुद सी गई है और चूहों न यहाँ कुछ खोद डाला है, अब काम हमारा सिद्ध हो गया। स्कन्द देवता के पुत्रों की सिद्धि का पहला लच्छन यही है। तो अब कैसे सेंध फोड़ूँ ? कनक शक्ति जी ने चार रीतियाँ सेंध फोड़ने की कही हैं-- पक्की ईंटों को खींच लेना, कच्ची को काट देना, गोंदे को भिगो देना और काठ को काट डालना। तो यह पक्की भीत है एक ईंट हटाऊं :--

खिले कमल सम, कृप सरिस नव चन्द्र अकारा।  
स्वस्तिक, पूरन कुम्भ सूर्य सम सन्धि प्रकारा ॥  
खोदि सेंधि मैं प्रकट करो अपनी चतुराई।  
भोर देखि जेह चकित होयँ सब लोग लुगाई ॥

( श्री अबधवासी भूप कृत मृच्छ कटिक नाटक के भाषानुवाद से )

चोरी में बल और विद्या दोनो से ही काम चलता है। आजकल के चोर तो सेफ गलाने के लिए आक्सी-हाइड्रोजन फ्लेम भी साथ ले जाते हैं। खैर पुराने जमाने का शर्विलक कहता है--

बल विद्या दोउ संग लगाई। तन प्रमान निज सेंध बनाई ॥  
सरकत चलौ धसत निज अंगा। कैचुल छाँड़त मनुहुँ भुजंगा ॥

यह चोर दीपक बुझाने के लिए क्रीड़ा साथ रखता था और घर के लोग सोते हैं या जागते हैं इककी परीक्षा इस प्रकार करता है--

चलत बराबर साँस नहीं शङ्क कछु लागे।  
मूँदी आँखि नहीं सिथिलभाव पुतरी निज त्यागै ॥  
ढीलौ परौ शरीर कछु सैया के बाहर।

( १७ )

दीप सहै नहिं, सौंह करै सोवत छल जो नर ॥

अब अपने मित्र शर्विलक की एक गर्वोक्ति भी सन लीजिए--

झपटा के मारत में चील्ह के समान हम,  
जल्दी जल्दी भागिवे में मृग सों न कम हैं।  
सोये जागे चीन्ह लेते कूकर की नाई नित।  
बिल्ली के से पाँय मेरे चलत नरम हैं।  
माया रूप धारन में साँप से है सर्कन में,  
देश भाषा जानन में बानी के सम हैं।  
संकट में डुडुम, तुरंग है सुथल पर,  
जल बीच नाव, राति दीपक हू हम हैं।'

गिर सम थिर, भाजन भुजग, झपटन में हम बाज।

पकरन वृक इत उत लखन शश बल मँह मृगराज ॥

लड़ाई के जमाने में साहु लोग भी चोरी का पेशा अपना लेते हैं क्योंकि वे ही चोर बाजार में रमण करते हैं। चोर लोगों के साथ ही वे भी जनता के इस विश्वास को सार्थक करते हैं कि लक्ष्मी जी का शुभागमन अमावस्या की कुहू निशा में होता है। ब्लैक मार्केट शब्द हिन्दू धर्म की मुक्ति कण्ठ से गवाही देता है। हमारे ऋषि मुनि त्रिकाल दर्शी थे। अंधेरी रात चारों की मा नहीं तो धातु अवश्य पायी जाती है।

साहु और चोर दोनों ही लक्ष्मी के कृपापात्र होने के कारण उनके बाहन राज उलूक की भाँति घने अन्धकार में देख सकते हैं। अन्तिम छोर मिल जाते हैं (Extremes meet) की सार्थकता इससे बढ़कर क्या हो सकती है ? पाश्चात्य विश्वास से निमर्वा (Minerva) जो सरस्वती का प्रतिरूप है, का भी बाहन उलूक है। पंडित लोग भी जहाँ किसी को कुछ नहीं सूझता अपनी उलूक दृष्टि से देख लेते हैं : उलूक शब्द बुरा नहीं है। आचार्य प्रवार केशवदास जी ने उलून को रामचन्द्र जी का उपनाम बतलाया है, देखिए--'बासर की सम्पदा उलूक ज्यों न चितवत'। केशव के भक्त मुणे क्षमा करें।

सभी लोग चोरों की भाँति दूसरों के अज्ञान, आलस्य और असावधानी से लाभ उठाते हैं। व्यापारी लोग भी तभी लाभ उठाते हैं जबकि दूसरे लोग घर बैठे ही दुनियाँ की वस्तुओं का उपभोग करना चाहते हैं और घर में अन्न न जमा करके मूषक सैन्य के आक्रमणों से बचकर सुख की नींद सोना चाहते हैं। डॉक्टर लोग भी आहार-विहार के नियम के न पालन करने वालों से लाभ उठाते हैं।

बिचारे चोर भी असावधान लोगों की सुख-निन्दा की कीमत वसूल करने के लिए आ जाते हैं। फिर वे परिपक्व कलाकार की भाँति ऐसी हाथ पैर की सफाई



( १८ )

दिखाते हैं कि चोरी का निशाना भी नहीं छोड़ते और जासूसों तथा खुफिया पुलिस के लोगों की बुद्धि को चक्कर में डाल देते हैं। चोरी के नये-नये ढंग निकालने में वे किसी आविष्कार से कम नहीं होते। चोर वेदान्तियों और यमदूतों की भाँति बड़त छोटे का भेद नहीं करते हैं। स्वयं मजिस्ट्रेटों के यहाँ चोरी कर चिराग तले अन्धरे की लोकोक्ति का सार्थक करते हैं। रूस की यात्रा से लौटे हुए तथा दर्शनार्थ आई हुई अपार जनता की गर्वोल्लसित ललचाई दृष्टियों के केंद्र बिन्दु हमारे लोकप्रिय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के अङ्गरक्षक भी नेहरू जी के रूपए एक जेबकट के आक्रमण से सुरिक्षत न रख सके। चोर लोग धन को ऊंची जमीन से नीचे धरातल पर लाने में सच्चे साम्यवादी का काम करते हैं। इस साम्यवादी कला को शतशः एवं सहस्रशः नमस्कार है।

--'मेरी असफलताओं' से

---

## पृथ्वी पर कल्पवृक्ष

यद्यपि एक कल्पवृक्ष कार्यालय उज्जैन में है, यद्यपि अखबारों के विज्ञापनों के रूप में अनेकों कल्पवृक्ष नित्य अपने काले अक्षरों की मौन मुखर भाषा में आपको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। आपकी कोई भी समस्या हो आजकल के विज्ञापन उसको हल करने को तैयार हैं। आपको धन की इच्छा हो 'क्रॉसवर्ड' पजिल पढ़िए, 'सुगमवर्ग' पहेलियों का अध्ययन कीजिए। यदि आप में योग्यता कम है तो ऐसे कोष हैं जो उनके हल करने में आपकी सहायता देंगे। कुछ ऐसे अखबार भी हैं जो आपको गढ़े गढ़ाये सुझाव दे देंगे। लेकिन एन्ट्री फीस देने के लिए रुपया चाहिए। पैसा पैसे को खींचता है, किन्तु दुर्भाग्यवश विज्ञान यह बतलाता है कि गुरुत्व की ओर आकर्षण होता है; जहाँ बहुत होता है, थोड़ा वहीं जाता है। फिर भी भाग्य होगा तो लक्ष्य-वेध हो ही जायगा--'कबहूँ तो। दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।' एक हल ही निकल जाय तो उमर भर बैठे रोटियाँ खाइए या दुनिया की सैर कीजिए। यदि आप कुछ कम पढ़े लिखे हैं और सट्टे से धन कमाना चाहते हैं तो ज्योतिषियों की फर्म आपकी सहायता करने को तैयार हैं। अचूक तीर लगेगा। यदि आप डाक्टरी करना चाहें तो आपके लिए ऐसे स्कूल नहीं, कॉलेज तैयार है जो आपको उनकी पुस्तकों का मूल्य देने पर एम० डी० की पदवी सहर्ष प्रदान कर देंगे।

यदि आप अपने भाग्य के साथ बच्चों का भाग्य भी सुरक्षित करना चाहते हैं तो बीमा कम्पनियों के विज्ञापन पढ़िए। वे एक से एक अधिक सुविधा देने की प्रतिस्पर्द्धा करती दिखाई देंगी। बस प्रीमियम देने को जबरदस्ती की बचत करने की क्षमता होनी चाहिए। मेरी तरह से भाग्यहीन हो कि जब प्रीमियम देने को रुपया न था तब सहज में बीमा हो गया, किन्तु प्रीमियम न चुका सका, और जब रुपया हुआ तब तक शरीर रागों का अड्डा बन गया और ओरियन्टल ने बीमा लेने से इन्कार कर दिया। घाटे में बीमा कम्पनी ही रही क्योंकि मैं साठ से आठ वर्ष ऊपर हो गया। मैं यही सबसे बढ़कर बीमा समझता हूँ और ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि पेंशन तो मिल ही जाती है। इसलिए जब अदालत में मुझसे पेशा पूछा जाता है तब मैं कह देता हूँ कि जिन्दा रहना ही मेरा पेशा है क्योंकि मुझे केवल जीवित रहने मात्र से पेंशन मिल जाती है। एक कम्पनी, जिसने मेरे रोगग्रस्त होने पर भी मेरा बीमा किया उसका दिवाला निकल गया। अस्तु।

यदि आपके पास धन है सन्तान नहीं तो वैद्य लोग आपको मनचाही सन्तान देने को तैयार हैं। वे लोग वरदान देने में देवताओं से भी एक कदम आगे रहते हैं।

अखबारी वैद्य भगवान शंकर की भाँति आशुतोष होते हैं। अधिक तपस्या की आवश्यकता नहीं होती। तीन पैसे का कार्ड और पाँचवें दिन वी० पी० के दाम। सकाम होकर भी निष्काम बने रहिए। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। यदि आप अति वृष्टि क भाँति बहु सन्तान को ईति-भीति समझने लगे हों (पहले जमाने में पुत्र जन्म की प्रसन्नता हर्ष का आदर्श मानी जाती थी। प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि यदि कोई सूत्रकार एक अक्षर की बचत कर लेता था तो उसे पुत्र-जन्म के बरबस प्रसन्नता होती थी। अब वे दिन हवा हो गये), यदि आप अपनी देवी जी के स्वास्थ्य की रक्षा करना चाहते हों या बच्चों की टें-टें पैं-पैं से अपनी सुख निद्रा भंग न करना चाहते हों, अथवा यदि आपके हृदय में वात्सल्य का स्रोत सूख गया हो और शिशुओं के धूल भरे अंगों से अपने धवल-धौत कपड़े और कमरे के फर्श को धूल-धूसरित न करना चाहें तो गर्भ निरोधक साधनों और औषधियों की कमी नहीं। अखबार क्या, सड़क के किनारे की दीवारें आपको अमुक वैद्य या वैद्या की अचूक औषधि से लाभ उठाने का नियंत्रण देंगी।

यदि धन बचाते-बचाते आपकी पाचन शक्ति कम हो गई हो और यदि धन के अभाव से खाना आपको नसीब न होता हो तो 'पेट भर भोजन कीजिये' का विज्ञापन आपके आश्वान देने के लिए राष्ट्र भाष के प्रायः प्रत्येक अखबार में मिल जायगा। 'गैस हर गोलियाँ' आपके पेट की गैस को इस सफाई और वीरता के साथ हर ले जायेंगी, जिस सफाई से दिल्लीपति पृथ्वीराज संयोगिता को हर ले गये थे।

यदि आपको कोई भी रोग हो, जीवन से निराश हो गये हों, अस्पताल के डॉक्टरों और आयुर्वेदाचार्यों ने जवाब दे दिया हो धन्वन्तरि के अवतार हकीम..... जी के विज्ञापन आपको बतलायेंगे कि वे आपके नगर के अमुक होटल में लोकानुग्रहकांक्षा पर पन्द्रह दिन और ठहर गये हैं, इस स्वर्ण अवसर को न चूकिए। गया वक्त फिर हाथ आता नहीं। किन्तु होता क्या है कि वे आपकी पुनीत सेवा के लिए अपनी नगर स्थिति के काल में सदा वृद्धि करते रहते हैं और आप भी यदि स्वास्थ्य लाभ के सस्ते रास्तों में विश्वास करने वाले हैं तो बूर के लड्डुओं की भाँत आप खायेंगे तो पछतायेंगे और न खायेंगे तो भी पछतायेंगे।

खैर स्वास्थ्य की बात जाने दीजिए। आपके दुश्मन अस्वस्थ हों (इसलिए कोई न कोई दुश्मन अवश्य बनाये रखिए), यदि 'श्रवण समीप भये सित केसा' से आगे बढ़कर बालों की सफेदी ने शिरोदेश पर आक्रमण कर दिया हो और यदि धनवान होने की निशानी सल्लाटत ने भी आपको अपना शिकार बना लिया हो तो नाना प्रकार के खिजाब और हेयर लोशन आपकी सेवा को तैयार मिलेंगे। इसमें अंग्रेजी अखबार हिन्दी के अखबारों के भी कान काटते हैं। आपके खल्लाट और

‘पलितं मुण्डंम्’ वाली विचित्र खोपड़ियों की कई श्रेणियों की तस्वीरें मिलेंगी। आपके बाल काले और सर भरा हो जायगा और आपको केशव की भाँति पछताना न पड़ेगा--‘केशव केसन अस करी अरि जसहू न कराय। चन्द्र वदनि मृगलोचनि बाबा कहि कहि जायँ’। यदि आप अपने मुखमण्डल पर बिना पानी और बीज के उगने वाली खेती पर विजय न पा सकते हों और काफी चुसत ओर चेतन्य न दिखाई पड़ते हों तो shavex क्रीम और Seven’ clock Blades की सहायता लीजिए, तुरन्त आपकी पदवृद्धि हो जायगी। क्लर्क से सुपरिटेन्डेन्ट बना दिये जायेंगे और किसी सिफारिश, या विशेष परीक्षा पास करने की आवश्यकता नहीं, आपके अभ्युदय का इससे सुलभ उपाय क्या हो सकता है ?

यदि आपका लड़का क्रिकेट या फुटबॉल में कैप्टन नहीं बन सकता तो उसे विटामिन विशिष्ट ‘डालडा’ घी का पकवान खिलाइए और यदि आपके घर की कोई देवी नृत्य कला विशारद है तो उसी ‘डालडा’ का प्रयोग करने पर एक नई स्फूर्ति का स्रोत मिल जायगा और वह कहेगी कि मेरी तबियत यही चाहती है क रात भर नाचती रहूँ। यदि आपकी देवी जी की पाक विद्या की प्रशंसा नहीं होती तो ‘रथ’ वनस्पति का प्रयोग कराइए। ‘पकाउ’ तो दाम भी कम और अल्प मात्रा में ही बड़ी मात्रा का काम निकाल देता है।

यदि दफ्तर में आपको सुस्ती के लिए डांट-फटकार मिलती है तो ‘हारलिक्स माल्टेड मिल्क’ पीजिए, डॉक्टर भी आपको यही सलाह देगा। फिर फटकार के स्थान में शाबाशी मिलने लगेगी और पद-वृद्धि भी हो जायगी।

यदि आपके कपड़े धोबी के यहाँ सुकड़ जाते हैं और बदन पर छोटे होने लगते हैं और आप अनावश्यक रूप से मोटे लगने लगते हैं तो Sanforize’ कपड़ा खरीदिए। उसके खरीदने पर आग्रह कीजिए, नहीं तो पछताइएगा। दर्जी के यहाँ का ‘shrinking’ काम न देगा।

यदि आप ऑफिस को लेट हो जाते हों तो अमुक कम्पनी के यहाँ से घड़ी दुरुस्त करा लीजिए। एक सैकिंड के पचासवें हिस्से का भी अन्तर न पड़ेगा और समय प्लान में अग्रगण्य हो जायेंगे। घड़ी को तो सहज में ठीक करा लेंगे किन्तु देरी के और कारणों पर भी विजय पाना होगा। कभी ईंधन गीला, तो कभी आटा ढीला और कभी नौकर देर से आया। कभी घड़ी की चाबी ही देना भूल गये तो बस। आलस्य पर विजय पाने की कोई औषधि भी घड़ी के साथ दे दी जाया करें, तो मैं भी एक घड़ी खरीद लूँ।

यदि आप अपनी देवी जी को दिन रात प्रसन्न रखा चाहें (चाहे घर में चूहे

( २२ )

एकादशी करते हों) तो 'हिमालय बुके पाउडर्स' का उपयोग कीजिए। विज्ञापन के साथ छपा हुआ घड़ी का डायल आपको सुबह, दोपहर और रात तीनों कालों की गारन्टी दे देगा। यदि आप गर्मियों में भी पूर्ण स्फूर्ति के साथ काम करना चाहें तो 'रूह अफजा' का एक गिलास पी लीजिए। यदि आपको विश्वास न हो तो तारिकाओं की गवाही ले लीजिए--' भरपूर गर्मियों में भी मेरा परिश्रम अनर्थक रहता है'। आप शायद ही उतना परिश्रम करते हों किन्तु फिर भी यदि आप उसे पी लिया करें तो पंखा और रेफ्रीजरेटर का खर्च बच जायगा। इश्तहार वाले आपके लिए पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित कर रहे हैं फिर भी आप उनके परामर्श से लाभ न उठावें तो आपके लिए गोस्वामी जी के शब्दों में कहना पड़ेगा।

'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंच सम।'

---

## जय उलूकराज !

जिस प्रकार आजकल के अधिकारियों का बिना मोटर के अधिकारी स्वरूप प्रकाश में नहीं आता उसी प्रकार देवता का देवत्व भी बिना वाहन के पूर्णतया उद्भासित नहीं होता।

‘वाहनाधीनं जगत्’-- जिस प्रकार विष्णु के वाहन विहंगराज गरुड़ हैं, शिव के नान्दी और दुर्गा के सिंह तथा माता शारदा के नीर-क्षीर विवेकी हंस हैं, उसी प्रकार श्वेतवसना लक्ष्मी की के वाहनराज हैं श्री उलूक देव !

यद्यपि लक्ष्मी जी श्वेत पद्मासना मानी जाती हैं तथापि उनको कृष्ण पक्ष अधिक प्रिय है। लक्ष्मी जी का जन्म नीलिमामय समुद्र की अतल गहराई की कालिमा में हुआ है। उनकी उत्पत्ति में सर्पों और दानवों का योग रहा है। यह भी विश्वास है कि सर्प उनकी रक्षा करते हैं। उन्होंने भुजंगशायी श्यामवर्ण भगवान विष्णु का वरण कर काले रंग की ओर अपने हृदय के झुकाव का परिचय दिया है। लक्ष्मी का सम्पर्क होते ही मनुष्य के हाथ काले नहीं तो मुँह काला होने की सम्भावना अवश्य हो जाती है; और उसमें राजस का तो स्पर्श हो ही जाता है, तामस का भी अधिकार होने लगता है। क्यों न हो, जब विष और मदिरा लक्ष्मी जी के भाई बहन हैं। तभी कविवर बिहारीलाल ने कहा है :--

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।

या खाये बौराय जग वा पाये बौराय॥

लक्ष्मी जी का शुभागमन कार्तिक की अमानिशा में होता है। लक्ष्मी जी सदा भूगर्भ में वास करती हैं। स्वर्ण और हीरे वसुन्धरा के अन्तस्तल में ही निहित रहते हैं। मोती भी शुक्ति के अन्धकारमय सम्पुट में जन्म लेता है। प्राचीन काल में बैंकों के अभाव में धन-राशि धरा के गहन गंभीर गर्त में ही गाढ़ कर रखी जाती थी और अब उसका गोदरेज की तिजोरियों में विश्राम होता है। लक्ष्मी की खोज में आजकल की लखनऊ की सरकार भी लखनवी नवाबों की हतराज वैभव सन्तान के साथ पृथ्वी के अंतस्तल को विदीर्ण करने में योग देती है और फलस्वरूप मिलती हैं तीन अशर्फियां। लक्ष्मी जी के वहन की ऐसी लकड़ी फिरती है कि पंडित भी मूर्ख बन जाते हैं और पहाड़ खोद कर चूहा ही निकलता है। लक्ष्मी जी अपनी चंचलता का पूर्ण परिचय दे देती हैं।

लक्ष्मी जी की प्राप्ति के साधन भी अन्धकारमय हैं। व्यापार के रहस्य

(Trade Secrets) सदा दुर्भेद्य रहते हैं। आपकी रक्षा और प्राप्ति का अमोघ साधन एटम बम भी एक अभेद्य रहस्य है। उस रहस्य के उद्घाटन के लिए लोगों को कारावास के अन्धकार में ढकेला जाता है। काला बाजार (ब्लैक मार्केट) में आपकी जितनी कृपा होती है उतनी खुले बाजार में नहीं। आप मिलों की कर्ण-कुहर-भेदक कर्कश ध्वनि और कालिख पूर्ण मिल के धुएँ से उत्पन्न होकर प्रायः अदृश्यरूप में मिल-मालिक की तिजोरियों में पधार जाती हैं।

इसी सूचीभेद्य अन्धकार में आपके वाहनराज उलूकदेव अपनी दिव्य चक्षुओं द्वारा भेदक (एक्सरे) दृष्टि से सूक्ष्म से सूक्ष्म मार्ग देख लेते हैं। शास्त्रों की यह सूझ सार्थक हो जाती है।

आपके वाहनराज इतने स्वामिभक्त हैं कि आपके तिरोभाव हो जाने पर भी आपकी यादगार कायम रखने के लिए करुण स्वर में पुकारा करते हैं। उनको श्मशान भी बड़ा प्रिय है क्योंकि धन वैभव की अन्तिम गति श्मशान ही है।

आपके वाहनराज जहां दिव्य-दृष्टि रखते हैं वहां वे बुद्धिहीनता के भी प्रतीक माने जाते हैं। अंग्रेजी में एक लोकोक्ति है-- Fortune favours fools.

लक्ष्मी जी के कृपापात्र अपने सम्बन्ध में तो इतने मूर्ख नहीं होते हैं जितने कि समझे जाते हैं; किन्तु वे दूसे के सुख-दुख के प्रति आंख बन्द किए रहते हैं। यदि वे दूसरों के सुख-दुख का ध्यान रखें तो न उनके तन पर इतनी चर्बी जमा हो पावे और न बैंकों में रुपया। चंचला लक्ष्मी को वश में रखने के लिए वे अपने हृदय को हिमालय की भाँति अचल बनाये रखते हैं। 'सफलता का मोती क्रूरता की सीपी में पनपता है।'

सरस्वती का जहां प्रकाश होता है वहां से लक्ष्मी जी पलायन कर जाती हैं और सरस्वती जी के उपासकों के पास लक्ष्मीवाहन की-सी भेदक दृष्टि नहीं होती जो अन्धकार में प्रकाश कर सके। हाँ, कभी-कभी सरस्वती के उपासकों को लक्ष्मीवाहनों की खुशामद करनी पड़ती है। यही भाग्य की सबसे बड़ी विडम्बना है। "भाग्य फलति सर्वत्र न विद्य न च पौरुषम्।"

भाग्य को अदृश्य कहा गया है। अदृश्य भी लक्ष्मी की भाँति सदा अन्धकार के गर्त में रहता है। उनके देखने के लिए लक्ष्मी-वाहन की भेदक दृष्टि चाहिए। लक्ष्मी के कृपापात्र विधि के लिखे को भी भेद कर अकुलीन से कुलीन और मूर्ख से पंडित बन जाते हैं। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति', इसलिए लक्ष्मी के आवाहन के लिए हमको 'जय उलूकराज' कह कर उनके वाहन का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि बिना वाहन के लक्ष्मी जी भी पंगु हैं। 'वाहनाधीनं जगत्'

## सम्पादकराज

भगवान ! गिरधर कविराज जी ने तेरह आदमियों की सूची दी है जिनसे तरह दिये बनि आवे, और जिनके लिए उन्होंने यह कहा है 'साईं ये न विरुद्धि ए गुरु पंडित कवि यार--' यदि वे इस सूची में आपका शुभ नाम भी जोड़ देते तो वे तेरह की अशुभ संख्या से बच जाते और इस युग के लिए वह सूची उपयोगी बन जाती।

देव ! आजकल का यश-लोलुप आपकी उपेक्षा नहीं कर सकता। लेखक और कवि तो यश के ही भूखे रहते हैं। मम्मटाचार्य ने काव्य के उद्देश्यों में यश को शीर्ष स्थान दिया है--'काव्य यशसे अर्थ कृते'-- फिर लेखक बेचारे आपकी किस प्रकार उपेक्षा करें। बेचारा लेखक, प्रकाशक और सम्पादकों के बीच में पड़ कर कबीर की भाँति रो उठता है।

चलती चक्की देख के दिया कबीरा रोय। दो पाटन के बीच तें साबित बचा न काये ॥

लेखक बेचारा प्रकाशकों के चक्कर से बचे तो सम्पादकों के चक्कर में आता है। पर्वों की संख्या उसके दुर्भाग्य से बढ़ती ही जाती है, होली, दीपावली, शिवरात्रि, बसन्त, संक्रान्त और दशहरा तो बड़े पर्व थे ही अब गान्धी जयंती, पन्द्र अगस्त और छब्बीस जनवरी और इस सूची में जुड़ गये। पर्वों की अपेक्षा अखबारों की संख्या जन संख्या से भी अधिक बढ़ती जा रही है फिर बेचोर लेखक की अक्ल का दिवाला न निकले तो क्या हो ? दिमाग को खुरच खुरच उसका कचूमर निकाल देने पर भी काम नहीं चलता।

दुर्भाग्य से हमारे नगर में भी चार-चार छै-छै अखबार हैं। 'सैनिक' अङ्ग रक्षक नहीं तो आतङ्ककारी तो हो ही सकता है। उजाले बिना काम नहीं चलता फिर अमर उजाला उसके भी रोज दर्शन हो जाते हैं। उसकी उपेक्षा कर कौन बुद्धिमान पक्षी का रूप धारण करे, वैसे वह कोई कभी-कभी चिराग तले अन्धेरे की बात भी सार्थक कर देता है। 'युवक' का मन रखना ही पड़ता है। मतवाला जी के तो सभी अपराध उनके नाम पर न्यौछावर कर दिए जाते हैं। इनके अतिरिक्त उदर निमित्त बाहर के अखबारों को भी लिखना पड़ता है। इसलिए आप से दया की भिक्षा माँगते हुए आपका स्तवन कर विश्राम लेता हूँ।

नारदावतार ! आप नारद मुनि की भाँति मिनिस्ट्रों के स्वर्गलोक की खबरें हम मर्त्य लोगों के पास पहुँचाते हैं। आपकी सब स्थानों में अवाधित गति है।



( २६ )

अर्जियाँ चाहे न पढ़ी जायं किन्तु आपकी वाणी आफिसरों के वधिर कर्णों में भी स्पन्दन पैदा कर देती है। सूर्य की प्रथम रश्मि तथा चिड़ियों की चहचहाहट के साथ आपके दूत उच्च स्वर से नई घटनाओं की घोषणाएं करते हुए पहुँच जाते हैं। चाय और सेप्टीरेजर की भाँति आपकी कलाकृति भी प्रातः स्मरणीय है। कलेवे के साथ उनका उपयोग होता है। धन्य है आपका भाग्य !

लम्ब करण ! आपके कान बड़े लम्बे हैं, दूर से दूर की खबरों को आप अपने कान में पकड़ लेते हैं। दूसरों की बुराई सुनने के लिए आप मृत्यु के सामन सहस्त्रकरण हैं और दोष देखने के लिए इन्द्र के समान सहस्त्र नेत्र हैं। आपकी दुलतियाँ बड़े-बड़े मिरिस्ट्रों के आसनों को डिगा देती है फिर-- बेचारे लेखकों की क्या गिनती है ? एक आलोचना की गोली और उनका ढेर हुआ।

धाता-विधाता ! आपकी शक्तियाँ अनन्त है। लीडरों के आप ही विधाता हैं। आपके प्रोपेगन्डा के अमोघ राम-बाण के बिना कोई चुनाव युद्ध में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। आप मूर्ख को पंडित और पंडित को मूर्ख बना सकते हैं। लक्ष्मी देवी आपकी सहचरी है। जिस पर लक्ष्मी जी को कृपा है उस पर आपकी भी कृपा होती है। लेखक के पास धन का अभाव होता है इसीलिए वे आपका स्तवन करते हैं। लीडरों की भाँति वे भी यशलोप होते हैं। वे आप से बस यही चाहते हैं :--

यही हमारा बड़ सेवकाई।

भूषण बसन न लेंइ चुराई ॥

आप लोग तो सबसे होली खेलते हैं। यदि लेखक लोग आप से होली खेलें तो आप क्षमा करें।

---

## मेरे एक शिकारपुरी मित्र

अंग्रेजी में एक कहावत है कि मनुष्य अपने मित्रों से जाना जाता है। इसके अनुसार पाठकगण चाहें, तो मुझे भी अपने मित्र के समकक्ष रख लें, किन्तु मैं उनकी मित्रता स्वीकार करने में लज्जित नहीं हूँगा।

नवागन्तुकों की साधारणतया चर्चा हुआ ही करती है, किन्तु जब मेरे शिकारपुरी मित्र ने वैश्यबोर्डिंग-हाउस में पदार्पण किया, तब सुरिन्टेन्डेन्ट (तब तक 'वार्डन' शब्द जेल वालों से चुराया नहीं गया था) से लेकर मेहतर तक उनकी चर्चा करता। अपने प्रिय मित्र का नाम नहीं बतलाऊँगा। इसलिए नहीं कि बदनाम होंगे, वरन् इसलिए कि वे इतने सज्जन, सुशील और सुयोग्य हैं कि बाइबिल के शब्दों में मैं उनके जूते के तस्मे भी खोलने योग्य नहीं और उनका पवित्र नाम एक लक्ष गायत्री-मन्त्र के जप द्वारा जिह्वा को पवित्र किये बिना नहीं किया जा सकता।

'गुरबा कुश्तन रोजे अव्वल' (बिल्ली को पहले दिन ही मार देना चाहिए, जिससे वह पीदे से उपद्रव न कर सके)। उन्होंने पहले ही दिन सुपरिन्टेन्डेन्ट पर रौब गाँठ दिया। सुरिन्टेन्डेन्ट महोदय ने उनका निवास-स्थान पूछा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाले सिद्धान्त के उपासक 'देश-कालानवच्छिन्न' आत्मा वाले मेरे मित्र को यह बात ऐसी अरुचिकर प्रतीत हुई, जैसे महात्मा सूरदास को हरि-विमुख लोगों का संग। वे फौन कह उठे--'नाम लिख लिया काफी है। शहर से क्या मतलब ? लियाकत देखिए साहब ! आपको आम खाने से काम या पेड़ गिनने से ? आप पढ़-लिखे आदमी हैं, व्यर्थ की सुनी सुनाई बातों के चक्कर में न पड़िए।'

जर्जर ऋषियों के-से उनके दुबले-पतले शरीर में चेहरे का प्रत्येक अवयव अपने शुभ अस्तित्व की घोषणा-सा करता प्रतीत होता था। उनकी रजतमेखला-विभूषित कटि सिंहनी और भिड़ (बर) की कटि को लज्जित करती थी। उसी खिसियानेपन के कारण सिंहनी मनुष्य-मात्र से वैर करने लग गई थी और भिड़ जहाँ-तहाँ लोगों को काटती फिरती है। उनके परस्पर स्पर्धाशील नेत्र-युग्मों की कज्जलकला छिपाये नहीं छिपती थी। उनकी 'भुँई' में लौटने वाली नहीं, किन्तु कमर को बिना प्रयास स्पर्श करने वाली, काली, मोटी, उंछी-गुँछी, गोरस और दधि से धुली, स्वच्छ मेचक, मसृण, नागिन सी चोटी सबके आकर्षण का विषय थी। उसे पाकर सूर के बालकृष्ण भी 'मैया ! कबहिं बढैगी चोटी; कितनी बार मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी वाली चिन्ता भूल जाते। प्राचीन हिन्दू-संस्कृति उनमें

कूट-कूट क भरी हुई थी, किन्तु वे सूट-बूट बिल्कुल अप-टू-डेट पहनते थे। अपने दुग्ध-फेन-सम धवल, स्विफ कालर कफों पर उन्हें गर्व था। के० वी० कम्पनी-निर्मित अपने डर्बी शू की वे स्वयं ही भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहते थे।

जिस समय आप वैश्य-बोर्डिंग-हाउस में स्थित मेंडू महाराज के स्मारक-स्वरूप शिव मन्दिर के चबूतरे पर ध्यानावस्थित होते थे, उनके चाकरदेव वृक्षों की पत्तियों से छनकर आने वाले भगवान अंशुमाली की किरणों का छते द्वारा निवारण करते रहते थे। मुझे उस समय भर्तृहरि शतक में वर्णित एक नायिका की याद आ जाती थी, जो शशि-किरणों से भी अपने को बचाती थी--

“विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणं छायासु तन्वी विचचारिण काचित्: स्तनोत्तरोयेण करोद्ध तेन निवारयन्ती शशिनो मयूखान।”

उस समय वे तपोलीन, छत्रधारी, चक्रवर्ती राजा से लगते थे। वे धार्मिक अवश्य थे, किन्तु उनमें कट्टरता छू तक न गई थी। उनकी व्यावहारिक बुद्धि बड़ी प्रखर थी। जरूरत पड़ने पर वे पञ्चपात्र में खारिया घोल पर यज्ञोपवीत से अपने 'केनवास' शू को कपूर-कुन्देन्दु-सम धवल बना ले थे।

अपनी लियाकत पर मेरे मित्र को नाज था। और थे भी लियाकत में यकतौ। प्रिंसीपल जौन्स उनके शुद्ध अंग्रेजी लिखने पर फिदा थे। संस्कृत में उनको ७५ फीसदी से कम नम्बर नहीं मिलते थे। उर्दू की इबारत आराई में बड़-बड़े मौलवी उनसे हार मानते थे। उनकेवीणा विनिन्दित कंठ ने उनके रूप माधुर्य की कमी को पूरा कर दिया था। जिस समय वे 'वृहत् स्तोत्र-रत्नाकर' के श्लोकों का पाठ करते थे, बोर्डिङ्ग-हाउस से स्तब्धता का साम्राज्य हो जाता था। क्षीर-शायी विष्णु-भगवान की श्वास से जिस प्रकार वेद निकलते हैं, उसी प्रकार उनके मुख से अनुप्रासमयी भाषा निःसृत हाती थी। Apt alleiteration's artful aid उनके पीछे कुत्तिया की भाँति उनका पदानुसरण कती थी। मेस के नोटिस भी अनुप्रासमयी भाषा में लिखे जाते थे--Purveyor presses provokingly. Please pay promptly.' एक बार उन्होंने फीरोजाबाद के कुछ लड़कों को छकाने के लिए अनुप्रास की एक लड़ी बात की बात में जोड़ दी। शेक्सपियर और कालिदास भी शायद अनुप्रासों की वैसी छटा न दिखा कसंगे

“Four free, frivolous, forward fortune favoured fools from Firozabad factory fined four farthings for frequently flying form football field for full five fortnights.”

इतनी लियाकत रखते हुए भी वे मेरी ही तरह इम्तहान पास करने में जल्दी

नहीं करते थे। जल्दी का काम शैतान का होता है। वे 'शनैर्विद्य वित्तं च' में विश्वास करते थे। किन्तु वे लियाकत की कमी के कारण फेल नहीं होते थे। कॉलेज में सम्बन्ध बनाये रखने के लिए देवता लोग उनकी सहायता करते रहते थे। उस जमाने में आजकल की-सी क्षुद्र भेद-बुद्धि न थी। स्कूल और कॉलेज में साथ-साथ इम्तहान होते थे। एफ० ए० में मेरे मित्र के रौल नम्बर का एंट्रेंस का परीक्षार्थी अनुपस्थित था। 'अयं निजं: परो बेत्ति, गणनां लघु चेतसाम्' के न्यास से उसी सीट पर जा डटे। पर्चा आया, उसे 'अनसीन' (Unseen) का पेपर समझकर हल करने लगे। मन में सोचा, पर्चों के क्रम की गारंटी नहीं होती। घंटे भर पश्चात् उन पर रहस्य खुला कि वह सीट उनकी नहीं। इंगलिश-हिस्ट्री ली थी, किन्तु लियाकत के जोश में रोमन-हिस्ट्री का पर्चा कर आये। बी० ए० में एक पर्चे में दो कापियाँ ली थीं। एक कापी मेज पर छोड़ी और दूसरी पर्चे और ब्लॉटिङ्ग में लपेट कर बोर्डिङ्ग ले आये। उनके उत्तरों को देख कर हम लोग दंग रह गये थे।

मेरे मित्र की सभीबातें निराली थी। उलटी भाषा बोलने का उन्हें अनुपम अभ्यास था। संस्कृत के श्लोक के श्लोक उलटी भाषा में पढ़ते चले जाते थे। 'मृषा वदति लोकोऽयं ताम्बूलं मुखभूषणम्; मुखस्य भूषणं पुसां स्यादेकैव सरस्वती', इसका पाठ वे पढ़ते थे-- रिमषा दवति कोलोयं, मातूलं खुँभणं। र्वुमस्य भूषणं सुपाँ, द्यासेकैव रस्वत्वसी'। मॉनीटर होकर वे हाजिरी भी उलटी ही लेते थे। माधुरीप्रसाद का धामुरीपरसाद, गोविंदराम का बोगिंदमार, राधामन का धारामरन कर दते थे। वैभव प्रदर्शन में वे किसी प्रकार की कमी नहीं छोड़ते थे। लियाकत का रौब तो वे पद-पद पर जमाते थे। कभी-कभी धन का वैभव भी दिखला देते थे। घर से लाये हुए नोटों और गिन्नियों को मेज पर प्रदर्शनार्थ पड़ा रहने देते थे। एक बार प्रिंसीपल महोदय का इंस्पेक्सन हुआ। उन्होंने उनके स्वागत के लिए गिन्नियों का 'वेलकम' बनाया।

अगर उनमें कमी थी तो एक बात की। वह यह कि अपनी उदारवृत्ति के कारण वे अपने गांव का नाम बतलाने में संकोच करते थे। एक बार बोर्डिङ्गहाउस के लड़कों ने अपने-अपने ट्रंकों पर अपने नाम लिखाये और नाम के साथ-साथ अपने स्थान का भी नाम लिखाया। बार-बार कहने, बड़ी दीनता के साथ अनुनय-विनय करने तथा नाम मुप्त लिखने के क्षुद्रतम, परन्तु मुझ-जैसे गरीब लड़के द्वारा दिये जाने के कारण महत्तम प्रलोभन देने पर भी उन्होंने शिकारपुर लिखने का साहस नहीं किया। डिस्ट्रिक्ट बुलन्दशहर लिखकर उन्होंने शहर का नाम लोगों में अनुमान बुद्धि के सरल एवं स्वास्थ्यकर व्यायाम के लिए छोड़ दिया। व्यञ्जना ही काव्य की जान है। वैश्य बोर्डिङ्ग हाउस के वे सुखमय दिवस अब नहीं लौट सकते, यद्यपि मैं भी हूँ और वैश्य-बोर्डिङ्ग हाउस भी।

## साँवलिया बीज वाला

दार्शनिक लोग इस गुत्थी के सुलझाने में कि बीज पहले था या वृक्ष अथवा अंडा पहले हुआ या मुर्गी पहले हुई कितना ही मानसिक व्यायाम करलें और 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' की समस्या हल करने वाले नैयायिक की भाँति भले ही हाथ का घी भी खो बैठें, अगारे का व्यावहारिक बुद्धि-सम्पन्न साँवलिया, 'बीज वाला' नामधारी होकर भी, बीज और पौधे दोनों का समन्वयात्मक व्यावसाय करता है। दोनों को वह बारी-बारी से प्राथकता देता है।

आगरे के अभावों में एक यह भी अभाव है कि शहर में बीजों और पौधों की कोई दुकान नहीं है। बीजों के लिए छीपीटोला जाना पड़ता है और पौधों तथा वृक्षों के लिए रामबाग या ताजमहल। किन्तु छीपीटोला और ताजमहल दोनों ही स्थान आगरे में कुख्यात हो चुके हैं। पहला कबाड़खाने के लिए बदनाम है और दूसरा मुर्दघटे से सम्बद्ध है। कुख्याति की बात छोड़ दें तो भी न इतना किसी में पुरुषार्थ है कि चार या पाँच मील की डबल मार्च की जाय और न इतना धन कि आठ दस आने के के बीजों के लिए उससे चौगुना अर्थ-व्यय करके, 'दमड़ी की गुड़िया टका सिर-मुड़ाई' की ग्रामीण लोकोक्ति को चरितार्थ करे। भारत की बेकारी रोजगार के भाव में चाहे इतनी न हो, अमरीका आदि के मुकाबिले में, जहाँ प्रत्येक तीन आदमियों में से एक के पास कार रहती है और जहाँ कारों के आधिक्य के कारण 'पार्किङ्ग' के नियमों की भी अवहेलना करनी पड़ती है, भारत के लोग कारों के अभाव में अवश्य बेकार कहे जा सकते हैं और उनके दल में मैं भी एक की वृद्धि कर रहा हूँ। पंडित हरिशंकर जी शर्मा के शब्दों में ही कहा जा सकता है :--

बाहन-कुल की परमगुरु, सब कहँ सुलभ न होय।

रघुबर की जन पै कृपा, ते नर पावहिं तोय ॥

हाँ, इस बेकार की प्रासंगिक कार-कथा में असली साकार साँवलिया की कथा भूल ही गया। सब लोग नहीं तो अधिकांश लोग पहाड़ तक जाने की अपेक्षा पहाड़ को ही अपने पास बुलाना चाहते हैं। नाग को बाँबी पर पूजने जाने का कष्ट नहीं करना चाहे, वरन् घर पर ही नाग को पूजा चाहते हैं। वे गंगाजल और शुद्ध कूप जल की अपेक्षा, जिसमें काया-कष्ट न हो नल की भागीरथी का ही जल पीना पसन्द करते हैं 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' आलसियों का ही मूल मन्त्र है।

ऐसे ही आलसियों के लिए जो सीने पर पड़ा बेर भी अपने मुंह तक नहीं ले जा सकते और उद्यान-प्रेमी होने का यश रूपी प्रांशुलभ्य फल को अपने वामन करों

से ही तोड़ना चाहते हैं, साँवलिया बीज वाले का अस्तित्व वरदान स्वरूप समझा जायगा।

नाम वाचक शब्द प्रायः सार्थक नहीं होते। लक्ष्मी नाम धारिणी वाली स्त्रियाँ कण्ठे बिनती हैं, बेचारे धनपति भिक्षाटन करते हैं और अमरसिंह शव-शैया पर शयन करते हैं किन्तु साँवलिया अपने नाम को सोलह आने नहीं तो बारह आने अवश्य सार्थक करता है। यदि उसके मुखारविन्द से कोई वस्तु प्रतिद्वन्द्विता में आती है तो उसके केश जिनकी कालिमा की वह खिजाब से यत्न पूर्वक रक्षा करता है। वह ऐसा कृष्ण भक्त है कि श्वेतता को पास नहीं फटकने देता। केशवदास जी शायद खिजाब के चमत्कार से अपरचित थे, तभी उन्हें केशों को दुश्मन बनाना पड़ा- 'केशव केशन अस करी, जस अरिहू न कराया। चन्द्रवदनि मृग लोचनी बाबा कहि- कहि जाय।' (जब से मैंने इसका मूल संस्कृत श्लोक पढ़ा है, तब से केशव की रसिकता के प्रति श्रद्धा कम हो गई है।) कृष्ण और उद्धव की ही भाँति वह भी प्रलम्ब-बाहु है।

बाहुओं के अनुरूप ही उसका आकार लम्बा है, तभी उद्यानकार होने के प्रांशुलभ्य फल को वह आशुलभ्य बना देता है। उसका कफदार कुर्ता उसकी शैकीनी प्रवृत्ति का परिचय देता हुआ उसकी बाहुओं की प्रलम्बता को और भी दीर्घामास प्रदान कर देता है। उसकी श्वेता दुपल्लू टोपी और उसकी ईषत लालिमामय दन्तावली उसके चहरे की श्यामता में सुखद सन्तुलन उत्पन्न कर देती है।

चन्नेजोर गरम वाले लाला घासीराम की झोली की भाँति उसकी दुकान भी डालिया में ही रहती है। आदि प्रकृति वा नूह की किशती की तरह उसमें एक बड़े उद्यान को सृष्टि-सामग्री निहित रहती है। जिस प्रकार वेदों में सब ज्ञान-विज्ञान के बीज हैं उसी प्रकार उसकी डालिया की चलती-फिरती दुकान में गरमी जाड़े, बरसात सब ऋतुओं के देशी-विदेशी फूलों और तरकारियों के बीज भरे रहते हैं। सरकार द्वारा रेगिस्तान के रोकथाम प्रचार से पूर्व ही वह प्रत्येक घर की दीवाली-सा जगमगाता चमन बना देने की सलाह देता रहा है।

उसकी डालिया में एक मैला-सा चादरा रहता है, जो उसकी दुकान की प्राचीनता का प्रमाण-पत्र समझा जा सकता है। चादर के अनेक छोरों में छोटी-बड़ी पोटलियाँ रहती हैं और साथ ही उस कपड़े से जीर्ण और हस्त-मर्दित सटन की लिस्ट रहती है जो बिहारी-नायिका की 'अरगजी भाल' की भाँति नवीनतमा प्रतिद्वन्द्विनियों का मान-मर्दन करती रहती है। उस लिस्ट के चित्रों से वे अपने बीजों के भावी फूलों के रंग-रूप का दिग्दर्शन करा देता है। आकार के लिए तो छोटे फूलों के लिए विकसित कमल की-सी एक हाथ की अँगुलियों की मुद्रा (मालूम नहीं

भारत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में इस मुद्रा को क्या नाम दिया है) और बड़े फूलों या बैंगन आदि के लिए दोनों हाथों को कुछ फैलाकर एक बड़े आकार का प्रदर्शन कर देता है। लौकियों और खीरों का आकार बतलाने के लिए वह ईश्वर-दत्त प्रलम्ब बाहुओं का सहारा ले लेता है। कोई फूल उसका सिंगिल नहीं होता। सभी विशेषकर जीनिया, वालसम और स्वीट पीज डबल और कम से कम छबीस 'वेरायटी' के होते हैं। वह फूल-पौदों का कल्प-वृक्ष है। मनचाही पौद का आडर दे दीजिए लन्दन की उन दुकानों की भाँति जो दुनिया की सारी चीजें सुलभ करा देती है, वह भी लवंगलता, बन्धुक, मालती और माधवी, सेवती-केतवी आदि सब प्राप्य करा देता है। वे आप के यहाँ हो जायगी, फलेगी इसकी पहले तो जिम्मेदारी ले लेता है, पीछे से उनके सूखजाने पर वह भी अपने आलसी खरीददारों की भाँति भाग्य, जमीन, खाद और पानी के अभाव को दोष दे देता है अथवा कविवर बिहारो की भाँति बसन्तऋतु के पुनरागमन की प्रतीक्षा की सलाह दे देता है।

इहि आशा अटक्यौ रह्यो, अलि गुलाब के मूल।

अइहँ बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन के फूल ॥

नेपोलियन और राणा रणजीतसिंह की तह उनके लिए असम्भव कोई वस्तु नहीं न उसके मन में कोई अटक रहती है। उसका भी यह सिद्धान्त है कि 'जाके मन में अटक है सोई अटक रहा।' वह रोज ही अपने ग्राहकों की कठिनाइयों के कटक को बाढ़ की एक ही ऐड में पार कर देता है। यदि आप कहें कि आपके यहाँ गमले नहीं है तो वह कह देता है, अभी जमीन पर लगा दीजिए फिर जब गमले खाली होजाये तब गमलों में लगा दीजिए, दो महीने बाद जो पेड़ आप आज दो आने में ले रहे हैं, वे दो रुपये में भी दुर्लभ हो जाँयेंगे। वह अपने ग्राहक को नौ नकद देकर तेरह के उधार से बेचता है। वह स्वयं कभी रुपया उधार नहीं माँगता किन्तु आज कपोत देकर कल के मयूर की आशा अवश्य दिलाता है 'वारमद्यः कपोतः श्वो मयूरात्' को न मानकर भविष्य की अमित सम्भावनाओं में अटूट विश्वास रखाता है। यदि आपके यहाँ पानी का अभाव है तो वह अँगुलियों पर दिन गिनकर ज्योतिषी की भाँति वर्षा की आशा दिला देता है। यदि आप जगह का अभाव बतलावें तो वह जमींदारी उन्मूलन की भाँति ऋतु से बाहर वाले पौदों के उन्मूलन की सलाह दे देता है।

दामों के सम्बन्ध में ग्राहक की जानकारी के विपरीत अनुपात में दाम बतलाता है। यदि ग्राहक की पेड़-पौदों सम्बन्ध में जानकारी अधिक है तो दाम कम बतलाता है और कम जानकारी वालों के साथ क्रम उल्टा कर देता है।

यद्यपि मैं उस से कई बार धोखा खा चुका हूँ, तथापि उसके धोखे के प्रमाण तो अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं और उसकी ईमानदारी के प्रमाण फूलते-फलते

( ३३ )

सामने दिखाई पड़ते रहते हैं। इस कारण वह मेरे लिए त्याज्य नहीं है। वह मेरी जेबों के परिमाण को समझ गया है और मेरी जानकारी की भी मेरे पाण्डित्य की सी झूठी धाक जम गई है। इसलिए वह मुझसे कीमतों के सम्बन्ध में उतना ही झूठ बोलता है जितना की राजनैति क्षेत्रों में क्षम्य समझा जाता है। इसलिए जब वह आता है, तब उसका मैं स्वागत करता हूँ। क्योंकि उसके शुभागमन से मुझे मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ सामग्री मिल जाती है। मैं उसे यथा-सम्भव कभी असंतुष्ट नहीं भेजता और वह भी यथा सम्भव मेरे दामों पर उतर आने का प्रयत्न करता है। कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार भक्त के लिए भगवान नीचे उतर आते हैं। दाम लेना तो उसका धर्म है। वह राजरानी मीरा की तरह इतना भावुक नहीं है कि 'चाकर राखो बाग लगासूँ' कह कर कह दे 'दरसन पाऊँ खरची' न मैं इतना दर्शनीय हूँ और न वह इतना भक्त। वह भक्त है तो नकद नारायण का जनकी मैं भी उपेक्षा नहीं कर सकता। जितना सांवलिया ने झूठ-सच बोलकर सालभर में मुझसे कमाया होगा, उतना मैं इस लेख में कमा लूँगा। ऐसी आशा है, आगे हरि इच्छा।

---



## ‘भज गोविन्द, भज गोविन्द, गोविन्द भजन मूढमते’

स्वनाम धन्य वयोवृद्ध नेता श्री राज गोपालाचार्य ने ‘मोहमुद्गर’ ‘भज गोविन्दम्’ स्तोत्र का भाष्य लिखा है। बहुत इच्छा रहते हुए भी मैंने उसे पढ़ा नहीं है। यद्यपि कुछ दिनों प्रति सप्ताह मुझे उसके दर्शन दिल्ली के साप्ताहिक हिन्दुस्तान में हो जाते थे यथापि गूढ़ चिन्तन और असमय वैराग्य धारण करने की बात सुनने के भय में मैंने उसकी उपेक्षा कर दी। मुझे इस बात का सन्तोष हुआ कि यदि विश्राम लेने की डॉक्टरों की सलाह का निम्नानवें बातों में उल्लंघन करता हूँ तो कम से कम एक बात में तो पालन कर लूँ। वैसे राजगोपालाचार्य जी की लेखनी में बड़ी सरलता है, उन्होंने महाभारत की सरस कथाओं को और भी सरस कर दिया है और कमल के सौन्दर्य की भाँति सोने में सुगन्ध की बात दिखा दी है, तब भी वैराग्य की बात से न मालूम क्यों विजुक्ता हूँ। ‘अन्तहु तोहि तजेंगे पामर तू काहे न तज अब ही ते’ की गोस्वामी तुलसीदास जी की बात ध्यान में नहीं आती। मैं सोचता हूँ उनको तो जीवन के आदि में ही ‘तिजरा को सो टोटका’ करके माता-पिता ने छोड़ दिया था। अन्त की बात का उन्हें ध्यान आना स्वाभाविक ही था। मेरे साथ तो ऐसी बात नहीं। मेरे बाल-बच्चे मेरे भक्त और अनुरक्त हैं। फिर जीवन से मुझे मोह है। ‘जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्।’ मैं पुनर्भव के रोग से डरता नहीं, जीवन में इतने रोग भुगत लिये हैं कि उनसे अब समझौता हो गया है। ‘शरीरं’ व्याधि मन्दिरम्’ जिनको इतने दिन शरीर में आश्रय दिया उनसे क्या भागूँ यद्यपि इस स्तोत्र का प्रारम्भ कुछ अशुभ सा है ‘प्रापते सन्निहिते मरणे’ तथापि इसमें एक अच्छी बात है कि इसमें वैयाकरणों को एक करारी फटकार है-- ‘प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे’ मरण के निकट पहुंचने पर डु धातु जो करने के अर्थ में है (शायद अंग्रेजी का Do इसीधातु से बना है। फिर भी लोग संस्कृत के सब भाषाओं की मूल स्रोत होने में शंका करते हैं।) का रटना रक्षा नहीं करेगा। प्रयत्न की सार्थकता और आवागमन में विश्वास रखते हुए भी मैं संस्कृत व्याकरण पढ़ने का साहस नहीं कर सका। माहेश्वर सूत्र डमरू से निकले थे और वे डमरू की ध्वनि से आगे नहीं बढ़े, वे मेरे लिए निरर्थक ही रहे। महर्षि पाणिनि मुझे क्षमा करें। मैं उनका ऋषि ऋण चुकाने में असमर्थ रहा। हम लोग अंग्रेजी की अव्यवस्था का बड़ा तुमार बाँधते हैं BUT वट होता है और PUT पुट होता है। क की ध्वनि C में भी निकलती है और K में भी। यह अव्यवस्था वास्तव में शोचनीय है किन्तु हमारे यहाँ की दशा भी शोचनीयता से शून्य नहीं है। दृष्टि और सृष्टि ऋ से लिखे जायँ और द्रष्टा और स्रष्टा र से लिखे जायँ।

( ३५ )

यह बात ठीक है कि इन अपवादों को भी सूत्रों के कटघरे में बांधा गया किन्तु यह सूत्र ऐसे ही होते हैं जैसे किसी राजकीय या वैधानिक अव्यवस्था को देखकर ओडीनेन्स जारी कर देना (संस्कृत व्याकरण की इतनी ही श्रेष्ठता है कि उसमें सबके लिए नियम और सूत्र बने हुए हैं अपवादों के भी नियम हैं)। व्याकरण की समस्याएँ तो मैंने पंडित किशोरीदास वाजपेयी और पंडित हरिशंकर शर्मा के लिए छोड़ रखी हैं। मैं तो अभी तक यह भी निर्णय नहीं कर सका हूँ कि राजनीतिक ठीक है या राजनैतिक। मनोराज्य के बारे में कह नहीं सकता कि यह शब्द ठीक है या नहीं? मैं अपनी मूर्खता के मनोराज्य में विचरना अवश्य पसन्द करता हूँ। यह भी नहीं कह सकता कि जागृति ठीक है या जाग्रति। मुझे तो जाट की बात पसन्द आती है जिसने कहा था तुक न मिली तो बोझों तो मरेगा। व्याकरण के नियम तभी काम में आ सकते हैं जब गांठ में कुछ विचार हों। भोजन के लिए सामग्री न ही तो सारा पाकशास्त्र धरा रह जायगा। भजगोविन्दम् की बात मुझे इसीलिए अच्छी लगती है कि उसमें वैयाकरणों की भर्त्सना है। फिर आप कहेंगे उसका निषेध पक्ष तो स्वीकार कर लिया जो अनुकूल था 'भजगोविन्दम्' का भावात्मक पक्ष क्यों नहीं स्वीकार किया? इसके लिए मेरा यही उत्तर है कि साहित्यिक होकर मैं पुनरुक्ति से बचना चाहता हूँ इसलिये भजन तो मेरे लिये रुचिकर नहीं होता। भजगोविन्दम् का पाठ अवश्य उसके नाद सौन्दर्य के लिए अच्छा लगता है सो भी एक सीमित मात्रा में। सीमाएँ तो भगवान ने स्वयं ही बांध दी हैं। शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् को वेदवाक्य मानकर शरीर साधना में इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि भजन पूजन के एि अधिक समय ही नहीं मिलता। जर्जर शरीर को औषधि-साधना के बल पर साधे रखना एक कठित समस्या हो जाती है। दिन में आठ गोलियाँ दो मिक्सचर और दो पेंटेन्ट दवाइयाँ उन पर प्राकृति चिकित्सा का बोझ। औषधि उपचार स्वयं एक सरदर्द बन जाती है, फिर भी रक्तचाप शम्भुचाप की भाँति टारे नहीं टरता। भजगोविन्दम् कहाँ से हो, फिर शत सन्धि जर्जर शरीर लेकर लोक एषणा का पीछा नहीं छूटता स्वयं अपने ऊपर हंसता हूँ, फिर भी उसके चक्कर में पड़ा रहता हूँ इस सबका दोष भी भगवान पर ही है।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाभ्य धर्मं न च मे निवृत्तिः ।

त्वया हृषीकेशः हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥



---

---

गहरे

---

---

: ११ :

## सौन्दर्योपासना और कुरूपता सौन्दर्योपासना

“O lady ! we receive but what we give and in our liffe  
alone doth nature live.”

-Coleridge

“समै--समै सुन्दर सबै, रूप-कुरूप न कोय  
जाकी रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।”

--बिहारी

जब गगन-चुंबी, तुषार-मंडित, पर्वत श्रृंगों, वर्षा-वार विलोडित नदियों, सघन-श्याम मेघ-मालाओं, नव किसलय-शोभित वृक्षों, नूतन पल्लव और कोमल कलियों से विभूषित लतिकाओं, नीलाकाश के प्रशस्त अंचल पर हीरक-खंड-तुल्य जगमगाते हुए शुभ्र नक्षत्रों और विमल सलिलवाही, कलकल निनादी निर्झरों को देखकर हमारा मन मयूर प्रोमोन्मतत-पुलक-मुकुलित हो नाचने लगता है, उस समय हमें अपनी और दृश्यमान संसार की एकता का अनुभव होने लगता है। यह शोभायमान दृश्यमान जगत, जिसके द्वारा हम अपने सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्ष कर रहे हैं, हमसे भिन्न नहीं। यदि यह वस्तुतः हमसे पृथक ही हैं, तो भला किस प्रकार हमारे चित्त को चकित और चलायमान कर सकता है।

यह सुन्दर संसार जिस आदर्श का अनुगमन कर रहा है वह आदर्श हमारे आदर्श से भिन्न नहीं। प्राकृति दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता दिखाई पड़ने लगती है। यह दृश्य ही ईश्वर की भाषा है। जो लोग इन दृश्यों को देखने में उदासीन रहते हैं, वे ईश्वर के मानीय बचनों का निरादर करते हैं।

सौंदर्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। जब हम कोकिल के कल कूजन में, भ्रमरावलि के मधुर गुंजार में, मछली के स्वच्छ-गंभीर जल में उछलकर विद्युल्लता की-सी चपलता दिखलाने में, मदोन्मत गजराज की मद-भरी चाल में, सिंहनी की क्षीण कटि में, मृगशावक के चंचल और कातर नेत्रों में, कमल और सिरीष-पुष्पों की कोमलता में, रंभा-स्तंभों की स्निग्धता में, हिम और कर्पूर की दिव्य धवलता में, पूर्ण शरदिन्दु की सुधासनी शीतलता में, आकाश की निष्कलंक नीलिमा में, ऊषा कालीन नवीन मेघों की मनोरम लालिमा में, राजहंसों की मंद गति में, कपोत-कपोपी की क्रीड़ा कंपित ग्रीवा

में, विद्रुम की अद्भुत अरुणाई में, फल-भार-अबनता रसाल शाखाओं की नम्रता में, करि-कलभ के कलित कर की कमनीय आकृति में, त्रिविध समर की अनूठी इठिलान और रजतमय शरच्चन्द्रिका की मृदुल-मंद कुसकान में, स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुन्दरता को आदर्श उपमान-उपमेय-रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं, उस समय हम अपनी सौंदर्योपासना में सारे संसार की एकता का परिचय देने लग जाते हैं।

सौंदर्योपासना द्वारा हम सुन्दर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार की एकता स्थपित करते हैं। किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखा चाहिए कि सुन्दर वस्तु तभी तक सुन्दर रहती है जब तक हम उससे किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते। जहाँ लाभ उठाने की चेष्टा की गई-- बस, सौंदर्योपासना के यत्परो नास्ति आनन्द का लाभ हाथ से जात रहा। जो लोग सौंदर्य को लोभ और संग्रह की दृष्टि से देखते हैं, उनके हाथ सौंदर्य नहीं आता और जो सौंदर्य को निस्स्वार्थ की दृष्टि से देखते हैं, उनके लिए संसार के सारे सुन्दर पदार्थ सुलभ हैं। स्वामी रामतीर्थ ने क्या अच्छा कहा है --

“अपने मजे की खातिर गुल छोड़ ही दिए जब,  
रूए-जमीं के गुलशन मेरे ही बन गए सब।  
खुद के लिए जो मुझसे दीदों की दी छूटी,  
खुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गए सब।”

क्या मछली पकड़ने वाले शिकारी को मछली उतनी ही सुन्दर प्रतीत होती है जितनी एक सहृदय सौंदर्योपासक को? फूल को गाँछी से अलग कर लेने पर हमें अनुभव होता है कि उसका पहले का-सा रूप, रंग, सुगन्ध और सौंदर्य नहीं रहता। सुन्दर वस्तु को अपनी सुन्दरता स्थिर रखने में सहायता देना ही सच्ची सौंदर्योपासना है।

यह उपासना अखिल विश्व-व्यापिनी है। इसमें कोई साम्प्रदायिक भेद नहीं। यही सच्चा कैथोलिक चर्च है। इसमें रोमन और ऐंग्लोकन का भेद नहीं।

इस महती उपासना द्वारा हम उस विश्व-सौंदर्य की झलक पा जाते हैं जिससे संसार भर की सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को अनूठी सुन्दरता मिलती है। वही सच्ची स्वर्गीय सुषमा उच्चादर्श रूप से सदा हमारे मानस मंदिर में विराजमान रहती है। समाष्टि और व्यष्टि के आदर्श का मेल हो जाता है। खोई हुई वस्तु अपनी गाँठ से छुटी हुई अमूल्य मणि-मिल जाती है। सौंदर्योपासना द्वारा जड़ चेतना का रूपान्तर दिखाई देने लगता है।

१. कैथोलिक का अर्थ है विश्व-व्यापी

( ३९ )

यह शोभामयी सृष्टि हमारे सुन्दर स्वप्नों की वास्तविक मूर्ति बन जाती है। समाष्टि-व्यष्टि का साम्य सहज ही में हो जाता है। सांसार को सौंदर्यमय देखने से संसार हमारे अनुकूल हो हमारी प्रसन्नता का कारण बन जाता है। हमारा कारगर ही हमारा मनोज्ञ विलास-भवन बन जाता है।

### कुरूपता

“Far around and beyond whatever is exceptional and illustrious in human life stretches that which is average and unperceived; all distinctions, all attainments, all signal beauty; skill,; wit. and whatever a man can exhibit in himself; swim and are lost in that great ocean”

-Edward Carpenter

“दीने दई गुलाब की इन डारन ये फूल।”

--‘बिहारी’

“गुले नेस्त कि खारे न बाशद”

“भौरा काला है, कुरूप है, हम हैं सुन्दर मत समझो;  
उस बसन्त का है वह साथी, जिसके तुम कहलाते हो।”

--‘कमला कर’

सौंदर्य की उपासना करना उचित है, यह सही; पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निंद्य है? नहीं सौंदर्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुन्दर पदार्थ अपनी सुन्दरता पर चाहे जितना मान करे, किन्तु असुन्दर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुन्दर कहलाता है। अंधों में ही काना श्रेष्ठ समझा जाता है।

कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है। रूपहीन वस्तु ही रूपवान वस्तु की आधारशिला है। कीचड़ से ही कमल की उत्पत्ति है और गुलाब भी कंटीली टहनियों में ही खिलता है। मोती सीप से पैदा होता है। रत्न क्षार समुद्र से निकलता है। मणि खान से निकलती है। गज-मौक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलाबर में चन्द्रोदय होता है। दुरुह पर्वतों के अंधकारमय गह्वरों में भाँति-भाँति की बनौषधियां विद्यमान रहती हैं। बड़े-बड़े बीहड़ जंगलों में सहज सलौने मृग-छौने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से ही, और सघन, सुन्दर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थित रूखी और मोटी-मोटी जड़ से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियों पर है और हरी भरी वनस्पतियों की स्थिति जल वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है। भूसी निकल जाने पर चावलों में से अंकुरित होने की शक्ति जाती रहती है।

आपके सुन्दर वस्त्र जिनसे आपकी सुन्दरता बनी हुई है, कहाँ से आये ? वे मिट्टी के ढेले जिनसे कपास की उत्पत्ति हुई, क्या बड़े रूपवान थे ? वह बेचारा श्रम-सहिष्णु कृषक, जिसने दिन-रात परिश्रम करके कपास के खेत को उपजाऊ और हरा भरा बनाया, क्या आपकी ही भाँति कोमल और सुकूमर था ! क्या वह लोहे की चर्खी ( मशीन ) जिसमें कपास साफ की गई थी और जिसके द्वारा कपास सूत में परिणित होकर सुन्दर वस्त्र रचने योग्य हुई, काले-काले कोयलों के ढेर से नहीं चलाई गई थी ? मिल में काम करने वाले लोग भी सबके सब आप ही की भाँति सुकूमर, सुभग और सुवेश वाले न होंगे । किन्तु यदि ये सब कुरूप पदार्थ न होते, तो आपके सौंदर्य की वृद्धि करने वाले ये सब पदार्थ कहाँ से सुलभ हो पाते ?

सत्ता सागर में दोनों ही की स्थिति है । दोनों ही एक तार तम्य से बँधे हुए हैं । दोनों ही एक दूसरे में परिणत हाते रहते हैं । फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों ?

रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा रहती है, जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए रखते हैं । सुन्दर वस्तु को भी हम इसी कारण सुन्दर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं ।

आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य-पूर्ण हो जाने पर सुन्दर और असुन्दर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं । कोई माता अपने पुत्र को कुरूप नहीं कहती । इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है । जब हम सारे संसार में अपने आपको ही देखेंगे, तब हमें कुरूप भी रूपवान दिखाई देगा । यदि ऐसा न भी हो, तो कोई विस्मय नहीं, पर रूप-हीन वस्तु से घृणा तो अवश्य ही जाती रहेगी । मानव शरीर के ही अंग-प्रत्यंग एक समान सुन्दर नहीं होते । फिर शरीर का ही सौंदर्य, सौंदर्य का अन्तिम परिणाम नहीं, आत्मा का सौंदर्य ही गणनीय है । परिश्रम करने वालों के श्रम-कण, नायक-नायिकाओं के सात्विक भाव जन्य श्रमकणों से अधिक सुन्दर होते हैं । वे उनकी ईमानदारी और श्रम सहष्णुताजन्य आन्तरिक सौंदर्य के परिचायक होते हैं । किसान के फटे-मैले वस्त्रों में उसकी कर्तव्यपरायणता उदारता और कर्मवीरता का सौंदर्य झलकता है ।

रूपहीन पदार्थ निरादर का विषय नहीं--तिरस्कार का पात्र नहीं । वह उसी सुविशाल सत्ता-सागर का एक कण है, जिसका सुन्दर पदार्थ है । रूपवानों का उदय भी कुरूप पदार्थों से ही होता है । मिट्टी और खाद कण सुन्दर-सुरभित सुमनों में परिणत होते रहते हैं<sup>7</sup> अतिशय कर्कश, टेढ़े और रूखे पत्थरों से ही मनोमुग्धकारिणी हृदयग्राहिणी एवं दृष्टयुन्मेषिणी मूर्तियां रची जाती हैं । जो वस्तु आज कुरूप है, वही कल रूपवान बन जायगी ।

---

## ( संघर्ष और उसके शमनोपाय )

### ( युद्ध, समझौता और समन्वय )

**मनुष्य की भौतिक सफलता :** मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपनी इसी सामाजिकता, सहकारिता और सहयोग भावना के कारण इतनी उन्नति कर सका है। उसने एक दूसरे की सफलता और विफलताओं से लाभ उठाया है। इस कार्य में मौखिक और लिखित भाषा उसकी सहायक हुई हैं। उसी के द्वारा सहयोग सम्भव हो सका है। उसने अपने विगत अनुभवों के शिलाखण्डों के आधार पर अपनी भावी उन्नति के सोपान रचे हैं।

जानवर जहाँ अपना भौतिक विकासक्रम पूरा करके सहस्त्रों वर्षों के पश्चात् भी उन्नति क्रम में ऊंचा नहीं उठ सके हैं वहाँ मनुष्य ने अपने शारीरिक बल की अपेक्षाकृत न्यूनताओं को बुद्धिबल और परस्परिक सहयोग से पूरा कर लिया है 'बुद्धिर्यस्यवलं तस्यै' जल, थल और आकाश में उसकी अवाधित गति है। देश और काल की सीमाओं पर उसने विजय प्राप्त कर ली है। शीतोष्ण के द्वन्दों को उसने चुनौत दी है। प्रकृति की सेवा करते करते उसके रहस्यों को मानव ने हस्तामलकवत कर रखा है। अब वह उससे क्रीतदासी या परिचारिका का काम लेता है। विद्युत शक्ति उसके लिए कल्पलता सिद्ध हुई है। अजेय पर्वतों पर वह विजय प्राप्त कर चुका है। चन्द्र लोक की यात्रा का वह स्वप्न देखने लगा है और नक्षत्रों से सम्पर्क स्थापित करने का वह उपक्रम बाँध रहा है। वह देवताओं की भाँति विमान में बैठकर गगन बिहारी बना हुआ है।

**पाशवी वृत्तियाँ :** मनुष्य की इतनी उन्नति होते हुए भी वह बहुत सी बातों में पशुओं से भी गया बीता है। जहाँ व्यक्तियों के हित टकराते हैं अथवा आदर्शों को संघर्ष होता है वहाँ वह श्वानवत गुर्गराने ही नहीं लगता वरन् वह अपने प्रतिद्वन्दी को फाड़ खाने को तैयार हो जाता है। उसके नख, दाँत और पंज जंगली जानवरों से कहीं अधिक घातक होते हैं। जानवरों की ही भाँति मनुष्य को भी अपनी घात शक्तियों का अधिक ज्ञान रहता है। इसी को लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है :--

ज्ञान अनभले कों सबहि, भले भलेहु काउ।

सींग सूँड़, रद लूम नख करत जीव जड घाउ॥

मनुष्य को भी अपनी तोप, बन्दूक, मशीनगन, टैंक और एटम और हाइड्रोजन



बमों की गर्वमयी चेतना हो गई है, इसलिए जहाँ व्यक्ति समूहों और राष्ट्रों का संघर्ष होता है वहाँ इन विस्फोटक यंत्रों के प्रयोग के लिए उसकी भुजाओं में स्पन्दन होने लगता है। और वह भीषण नर संहार के लिए रणचण्डी का आह्वान करने लगता है। राजगोपालाचार्य जैसे मनीषी आणुविक शास्त्रों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं किन्तु वह तूती की आवाज की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय नक्कार खाने में विलीन हो जाती है। यदि अब एटमी शक्ति भी समाज कल्याण के शिवत्त्व की ओर अग्रसर होने का शुभ संकल्प कर रही है तथापि उसके भस्मासुरी रूप की ही अधिक गर्व और प्रतिस्पर्द्धा भरी चर्चा होती है। शान्ति की स्वर्णिम रेखाएँ क्षितिज पर कभी कभी अवश्य दिखाई पड़ जाती हैं किन्तु युद्ध के बादले अभी हटे नहीं हैं।

**संघर्ष की श्रेणियाँ :** इन संघर्ष की श्रेणियों में वैयक्तिक स्वार्थों की अपेक्षा सामूहिक हितों की टकराहट को अधिक महत्व दिया जाता है और भौतिक हितों की अपेक्षा आदर्शों के संघर्ष को और भी भव्यता प्रदान की जाती है। आदर्शों के संघर्ष के कारण जातियों के सहस्त्रों नरमेघ यज्ञ रचे जाते हैं और युद्ध की हिंसा वैदिक हिंसा की भाँति हिंसा नहीं कहलाती। धर्म के नाम पर अनेकों अधर्म-युद्ध हुए हैं। धर्मनीति के स्थान में मत्स्य न्याय का चोलवाला हो जाता है और जिसकी लाठी उसकी भैंस न्याय का माप दण्ड बन जाता है। युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय बन जाता है और भौतिक बल ही न्याय के पलड़े को बलवान के पक्ष में झुका देता है।

**युद्ध के कारण :** पहले युद्ध तो प्रायः जर ( धन ), जमीन और जन ( स्त्री ) के लिए किये जाते थे। प्रचीन भारतीय यश को मुख्यता देते थे। “यश से विजिगीषुणाम्” आजकल कई और कारणों से भी युद्ध हिछड़ जाते हैं। कभी तो जाति और संस्कृति की श्रेष्ठता के नाम पर युद्धों का श्रीगणेश होता है जैसा हिटलर ने किया था। संस्कृति के नाम पर अनेकों असांस्कृति कार्य होते हैं। जर्मन दार्शनिक निशे ने जीवन को गतिशील बनाये रखने के लिए शक्ति प्रदर्शन और युद्ध को आवश्यक बतलाया था। नाजियों ने यहूदियों का निष्कासन किया किन्तु वे मित्र राष्ट्रों की संयुक्त शक्ति के सामने डट न सके। नाजीवाद का खात्मा किया गया किन्तु शक्तिवाद अमर बल्लरी की भाँति आज भी फलफूल रहा है। कहीं युद्ध दूसरों को सभ्य बनाने के लिए होते हैं। यह तो अपने लोगों के लिए पेट का धन्धा ढूँढ़ने के लिए सुनहला आवरण पट होता है। कहीं व्यापार के प्रसार के लिए, तो कहीं धर्म के प्रचार के लिए तलवार का सहारा लिया जाता है। एक धर्म वाले भी तो कभी-कभी राष्ट्रीय स्वाभिमान के नाम पर लड़ पड़ते हैं। ईसाई ईसाइयों से लड़ते हैं और मुसलमान मुसलमानों से। हिन्दू लोग भी इस रोग से मुक्त नहीं रहे। ऐसी अवस्था में दो विरोधी दल एक ही खुदा या ईश्वर से अपनी-अपनी विजय की प्रार्थना करते

हैं। हिन्दुओं का बहुदेववाद इस विषय स्थिति को किसी अंश में बचाये रखता है। सुरों के भक्त और सहायक विष्णु भगवान की शरण में जाते हैं तो असुर लोग शिवजी का सहारा ढूँढ़ते हैं।

**संघर्ष :** मानव समाज में पास्परिक भेदों और हितों की टकराहट के अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। संसार इतना सम्पन्न नहीं कि सबकी मांगों को पूरा कर दे। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की सीमा नहीं बाँध सकते। महात्मा गाँधी ने आवश्यकताओं को कम करने का ही पाठ पढ़ाया था। यदि ऐसा हो सके तो दूसरे को भी हाथ पैर फैलाने और स्वतन्त्रता की सांस लेने का अवसर मिल जाय। मानव ने मानव का गौरव नहीं पहचाना है। उसका मानसिक क्षितज पर्याप्त रूप से विस्तृत नहीं बना है। वह अब भी जाति-पाँति और राष्ट्रीयता की संकुचित घरेलू दीवारों से घिरा हुआ है। अभी उसमें आत्मोपम्य दृष्टि का अभाव है, सामूहिक एवं समष्टि भावना की अपेक्षा भेद बुद्धि अधिक है। इसी भेद बुद्धि के कारण टकराहटे होती हैं। इनका अस्तित्व हम को लज्जापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है। अब प्रश्न यह होता है कि या तो इन टकराहटों को वैसा का वैसा रहने दिया जाय अथवा उनके शमन या उनके न्यूनातन्यून करने का उपाय किया जाय। टकराहटों का वैसा को वैसा रखने में वह घटती नहीं वरन् उनकी सन्तति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रहती है। टकराहट और संघर्ष का भी उपयोग अवश्य है, वह भावी उन्नति का साधन मात्र हो सकती हैं, किन्तु वह साध्य नहीं। टकराहट से हमारा नेत्रोन्मीलन हो सकता है, नई दिशा की ओर संकेत मिल सकता है किन्तु उससे आगे उसकी उपयोगिता नहीं। बिना थोड़ संघर्ष के गाढ़ी का पहिया भी आगे नहीं बढ़ सकता है किन्तु वह उतना ही होना चाहिए जितना कि उन्नति चक्र को गति देने के लिए आवश्यक हो। यदि संघर्ष को ही हम लक्ष्य बना लें तो हमारी गति कुण्ठित हो जायगी।

**तीन उपाय :** संघर्ष के तीन उपाय हैं, एक तो संघर्ष को बढ़ा कर युद्ध द्वारा प्रतिद्वंद्विनी शक्तियों को समूल नष्ट कर देना या उनको इतना बलहीन बना देना कि वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न रख सकें। प्रत्येक वस्तु संसार की सम्पन्नता में अंशदान करती है। प्रतिद्वंद्विनी शक्ति या विचारों को मिटा देना संसार की सम्पन्नता को कम करना होगा। फिर भी युद्ध की सम्भावना उपेक्षणीय नहीं। दूसरे उपाय समझौते और समन्वय के हैं। अब हम तीनों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

**युद्ध के लघु रूप :** संघर्ष को कुछ लोग आवश्यकता वश भौतिक या व्यावहारिक कारणों से अपनाते हैं और कुछ लोग तो क्रियाशील बने रहने के लिए अपनाते हैं। वे जहाँ संघर्ष की गुंजाइश भी नहीं होती उसके लिए कारण ढूँढ़ निकालते हैं। उनकी नीति होती है 'आ बैल मुझे मार' वे जीओ और जीने दो की

नीति में विश्वास नहीं करते, वे मारो या मरो को अपना मूल मन्त्र बनाते हैं।

संघर्ष वैयक्तिक जीवन में भी होता है और दलों और राष्ट्रों के जीवन में भी। शान्ति के समय में भी पर्याप्त मात्रा में चलता रहता है, कभी-कभी वह अलक्ष्य रहता है और कभी उग्र होकर लक्ष्य हो जाता है। हास्य, व्यंग्य, उपहास, अपमान, गालीगलौज, फौजदारी, मुकद्दमेबाजी, हड़ताल, सत्याग्रह सब संघर्ष के ही रूप हैं। इनमें कुछ कम आपत्तिजनक हैं और कुछ अधिक। व्यंग्य यदि शिष्ट होता है तो विशेष आपत्तिजनक नहीं होता है। गाली गलौच और अपमान की सन्तति बढ़ती ही रहती है। गाली और फौजदारी युद्ध के ही लघुतम संस्करण हैं। मुकद्दमेबाजी में न्याय की तो शरण ली जाती है किन्तु न्याय प्राप्ति में कभी-कभी घोर अन्याय करने पड़ते हैं। समय धन और शक्ति के अपव्यय का तो कुछ कहना ही नहीं। दौड़ धूप के साथ अदालती अमले क्या चपरासियों तक की झिड़कियाँ व्याज में मिलती हैं।

हड़ताल किसी वर्ग के हित साधन में समर्थ हो सकती है किन्तु जब लोगों की इच्छा के विरुद्ध उनको उसमें शामिल होने के लिए बाध्य किया जाता है तब वह अहिंसात्मक नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त यदि वह दीर्घकालीन हुई तो वह देश के उत्पादन में भी बाधक होती है। सत्याग्रह अधिकाँश में स्वेच्छापूर्ण होते हैं। शर्माहजूरी की दूसरी बात है किन्तु यदि सत्याग्रह के लिए किसी को बाध्य किया जाय तो सत्याग्रह अपने नाम की सार्थकता खो बैठता है। सच्चा सत्याग्रही मारने की अपेक्षा अपनी आन पर डटा हुआ मरने को तैयार रहता है। वह कष्ट सहकर ही अपने पक्षों का समर्थन करता है। सामूहिक सत्याग्रह में शर्माहजूरी की बात अधिक आ जाती है, फिर भी वह अहिंसात्मक रहता है। जहाँ हिंसा का भाव आया वह अपनी पवित्रता और शुद्धता खो बैठता है। सत्याग्रह में भी सत्याग्रही के नैतिक अधिकार का प्रश्न रहता है। सत्याग्रह सत्य के सम्बन्ध में ही हो सकता है, असत्य और अनधिकार के सम्बन्ध में नहीं, दूसरा प्रश्न यह होता है कि सत्याग्रह करने वाले को सत्याग्रह करने का अधिकार है या नहीं? वह बीच में ही तो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं कूद पड़ा। यह विचारणीय प्रश्न है कि मानवता के नाते दूसरे भी सत्याग्रही लोगों को क्रियात्मक सहायता दे सकते हैं या नहीं। डाक्टरी सहायता देना तो मानवता है। सत्याग्रह वही जल्दी सफल होता है जहाँ दूसरे के दिल में गुंजाइश हो। जहाँ दूसरा पक्ष क्रूर और नृशंस हो वहाँ सत्याग्रह की सफलता में प्रश्न चिन्ह लग जाता है। महात्मा गान्धी का कहना है कि सच्चे सत्याग्रही के सम्मुख क्रूर से क्रूर का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है। लेकिन आत्म बलिदान करने के लिये साहस और धैर्य चाहिए।

**युद्ध :** जब दो राष्ट्र या सरकारें सैन्यबल और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित

होकर लड़ती हैं तभी वह लड़ाई युद्ध का रूप धारण कर लेती है। उसमें लड़ती सरकारें हैं किन्तु हानि और बरबादी निरीह और निर्दोष प्रजा की होती है। सिपाहियों को भी पेट की खातिर जान का सौदा करना पड़ता है। कहने को युद्ध के लिए नीति और नियम हैं किन्तु उनका पालन उनकी अवहेलना में ही अधिक होता है। युद्ध में वर्षों की संचित निधियों, कला-कौशल के अमूल्य भण्डारों और मानवता के प्रतीक अस्पतालों, विद्यालयों एवं संग्रहालयों का नृशंस ध्वंस कर दिया जाता है। गगन चुम्बी भव्य भवन और कल कारखाने बात की बात में धराशायी कर दिये जाते हैं। निर्जीव पदार्थों को कौन कहे जन जीवन ज्योति से जगमगाते सौंदर्य सुषमा मंडित सहस्त्रों नर नारी गाजर मूली की भाँति काट डाले जाते हैं। युद्ध के भीषण संहार का कविवर सियारामशरण गुप्त ने अपनी उन्मुक्त नाम की काव्य-पुस्तक में बड़ा सजीव वर्णन किया है।

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ सो यानों से।  
सुना सभी ने बधिर हुए जाते कानों से॥  
उनका, क्या मैं कहूँ घोष दुर्घोष भयंकर।  
प्रेतों का सा अट्टहास, शत शत प्रलयङ्कर॥  
उल्काओं का पतन, बज्रपातों का तर्जन।  
नीरव जिनके निकट हुआ ऐसा कटु गर्जन॥  
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्द्धांश नगर का।  
युग-युग का श्रम साध्य साधना फल यह नर का॥  
ध्वस्त दिखाई दिया, चिकित्सालय, विद्यालय।  
पूजालय, गृह भवन, कुटीरों के चय के चय॥  
गिर कर अपनी ध्वस्त चिताओं में श्रे जलते।  
कहीं उबलते, कहीं सुलगते धुंआ डालते॥

युद्ध की सम्भावना रोकने के लिए आपाद मस्तक शस्त्रीकरण किया जाता है और शक्तिशाली राज्यों की भुजाएं रावण की भुजाओं की भाँति फड़कने लगती है। गोमुखी व्याघ्र छोटे राज्यों को हड़पने को तैयार रहते हैं। एक युद्ध के समाप्त होते ही दूसरे का शिलान्यास हो जाता है। पराजित के स्वाभिमान की रक्षा नहीं की जाती और उसके अन्तस में सुलगती हुई आग कभी न कभी भभक उठती है।

**मानवता की आत्महत्या :** एटम और हाइड्रोजन बमों ने तो मानवता को समूल नष्ट करने की भूमिका तैयार की है। सभ्यता का चरम विकास हमको बरबर्ता की अन्तिम सीमा तक पहुँचा देता है। दो विपरीत छौर अपनी आत्यन्तिकता में मिल जाते हैं। मनुष्य ने दानवी शक्ति प्राप्त कर ली है जब तक वह उसका दानवी प्रयोग न करे तभी तक मानवता की कुशल है। इस शक्ति का कोई स्वेच्छा पूर्वक त्याग नहीं करना चाहता है। मानवता का गर्व करता हुआ भी मानव मानव नहीं बनना

चाहता क्योंकि शक्ति का मोह छोड़ना कठिन है। शक्ति प्राप्त कर लेना सहज है किन्तु उसको संयत रखना कठिन है। भस्मासुर भस्म करने की शक्ति प्राप्त कर स्वयं कल्याण स्वरूप शिव को ही भस्म करना चाहता है किन्तु विष्णु भगवान के कौशल से वह स्वयं अपने को भस्म कर बैठा। भस्मासुरी अणु शक्त का अबाधित प्रयोग का दूसरा अर्थ है मानवता की आत्महत्या। तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने पत्तों और फूलों से भी लड़ना घातक बतलाया है। एटम बम का तो कहना ही क्या यादव लोग घास की पतेले से लड़कर सकुल मारे गए और काम फूलों से लड़कर भस्म हुआ।

सुमति विचारहि परिहरिह, दल सुमनहु संग्राम।

सकुल गए तुन बिन भए, साखी जादों काम॥

**युद्ध की नैतिकता :** युद्ध की नैतिकता स्थापित करने के लिए कहीं तो उसे प्राणि शास्त्र की आवश्यकता (वाइलोजीकल नेसेसिटी) बतलाया जाता है, कहीं साधन की उत्तमता और वांछनीयता के कारण साधनों की भी उत्तमता प्रमाणित की जाती है। इसी आधार पर हेरोशामा और नागासाकी का अणु बम कृत भीषण नर संहार सभ्य ठहराया गया। जिस जीवन का उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ विज्ञान भी सृजन में असमर्थ रहा उसके संहार का ही मानव को क्या अधिकार है? हत्या यदि दण्डनीय है तो यह सामूहिक होकर अदण्डनीय नहीं बन पाती। युद्ध के खत्म करने का एक मात्र उपाय युद्ध की तैयारी बतलाई जाती है किन्तु ऐसा नहीं है। एटम बम जब रूस ने तैयार कर लिया तब से और घातक हाइड्रोजन बम बना। अब यह भी पिछड़ गया। इससे भी एक कदम आगे जाने की सोची जाती है। विज्ञान के नाम पर मनुष्य अपनी प्रभुत्व कामना को अबाधित गति दे रहा है और उसे उच्छृंखलता की कोटि तक पहुँचा देता है। शक्ति के हाथ में आते ही उसके प्रयोग के लिए मन चंचल हो उठता है। महासागरों में परीक्षण होते हैं, बेचारे तटवासी ज्ञात रूप से या अज्ञात रूप से हानि उठाते हैं। निरीह मूक जल जीवों का तो कहना ही क्या?

यदि आणुविक शास्त्रों का प्रयोग एक राष्ट्र के लिए वैध ठहराया जाता है तो दूसरे भी उसके प्रयोग से नहीं राके जा सकते। हर्ष की बात है कि अब उसके शान्तिमय प्रयोगों की बात सोची जा रही है। शक्ति जब शिव को वरेगी तभी दानवता का नाश होगा। जैनेवा कान्फेन्स इस शिवत्व की ओर अग्रसर होने का एक सत्प्रयत्न है।

**युद्ध कन्डू :** युद्ध कन्डू दूर करने के लिए और भी उपाय सोचने पड़ेंगे। शक्ति का मद बहुत बुरा होता है। उसको संयत रखने के लिए विश्व मानवता के अधिक प्रचार की आवश्यकता है। यह प्रचार सत्साहित्य द्वारा किया जाना चाहिए। अच्छा साहित्य जीवन के प्रति आस्था ही उत्पन्न नहीं करता वरन् उसके सौन्दर्य पक्ष

का भी उद्घाटन कर उसे पूजनीय बना देता है। किन्तु खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि मनुष्य जादू से अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों पर विजय नहीं पा सकता है। सैनिक बल तो रखना ही पड़ेगा कम से कम आन्तरिक शान्ति के लिए किन्तु उसको अधिक से अधिक मानवी बनाया जा सकता है। सैनिक में, जहाँ तक आन्तरिक मामलों का सम्बन्ध है अधिक संयम अपेक्षित है। यह बात पुलिस के लिए भी लागू होती है। उनको जरा सी बात पर उत्तेजित न होना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि बाह्य मामलों में संयम से काम न लिया जाय। प्रति पक्षी के बल से अनुपात में बल प्रयोग करना चाहिए।

युद्ध की लालसा जो अधिक स्फूर्ति और फालतू उमंग से उत्पन्न होती है उसकी दिशा निर्देश खेल कूद, सेवा कार्यों और रचनात्मक कामों में करना चाहिए। हमारे सैनिक इस दिशा में भी कुछ काम करते हैं। युद्ध का खतरा बिल्कुल मिटाया तो नहीं जा सकता है किन्तु उसको कम किया जा सकता है और युद्ध कम घातक बनाये जा सकते हैं।

**समझौता और समन्वय :** युद्ध से अधिक मानवी उपाय है समझौता और समन्वय। समझौता और समन्वय दोनों ही का आधार बौद्धिकता में रहता है और दोनों में ही हठवाद का त्याग और दूसरे पक्ष की आंशिक सत्यात की स्वीकृति रहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि समझौते में अपने अधिकारों का संकोच होता है और समन्वय में अपने मत के ज्ञान पक्ष में विस्तार, उसके समक्ष अपने मत में आवश्यक काट छाँट भी हो जाती है। समझौते में जहाँ अधिकार को संकोच होता है वहाँ सद्भावना का विस्तार होता है। दोनों में संकोच और विस्तार होत है किन्तु समझौते में संकोच की मात्रा अधिक है समन्वय में विस्तार की।

समझौते में दो या दो अधिक पक्ष एक दूसरे की मांग को समझकर अपनी-अपनी मांग और अपने-अपने अधिकारों की सीमा बांध लेते हैं जिससे दोनों के हितों में टकराहट न हो। इसमें सब ही पक्षों की मांग की आंशिक पूर्ति हो जाती है। दुनियाँ इतनी सम्पन्न नहीं है कि सभी पक्षों की सभी मांगे पूर्णतय पूरी हो जायें। समझौते में केवल आंसू पोछने की बात नहीं रहती वरन् उसमें न्याय और नीति अपेक्षित रहती है। जो मांग जिस मात्रा में अधिक न्यायोचित होती है उसी मात्रा में उसकी पूर्ति होना चाहिए। कभी-कभी जब न्याय पूर्णतया दूसरे पक्ष में हो तब सबसे बढ़िया समझौता वही होता है जिसमें न्याय की मांग को पूर्णतया पूरा किया जाय। न्याय के पक्ष में अपने अधिकारों या अधिकृत वस्तुओं का उत्सर्ग कर देना अपनी उदात्तवृत्ति का परिचय देना है।

सब पक्षों के नैतिक हक बराबर नहीं होते। किसी के कम और किसी के

अधिक। इसीलिए समझौते की भी सीमाएं होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सब जगह समझौता हो ही जाय। किन्तु समझौते की भावना हर समय अपने आगे रखनी चाहिए। वैसे तो जिसका कम हक होता है वह शीघ्र ही समझौते को तैयार हो जायगा क्योंकि उसका तो कुछ जाता नहीं उसको लाभ की ही सम्भावना रहती है और अधिक नैतिक हक रखने वाला सहज में समझौते को राजी नहीं होता क्योंकि उसको तो प्राप्त और प्राप्य दोनों का कुछ अंश खोना पड़ता है। काश्मीर की कुछ-कुछ ऐसी ही समस्या है। कम नैतिक अधिकार वाला कभी-कभी दुनियां के सामने बड़े भोलेपन और आहत निर्दोषिता से कहेगा कि मैं तो समझौते को तैयार हूँ दूसरा पक्ष ही उससे बचता फिरता है।

हमें चाहिए कि दूसरे को उसका प्राप्य सहर्ष दे दें। इससे सद्भावना बढ़ती है और अपना प्राप्य मिलने में भी सहायता मिलती है। जहां अपने नैतिक प्राप्य का सवाल आता है वहाँ समझौता कुछ कठिन हो जाता है। प्राप्त तो छोड़ना मुश्किल होता ही है और कभी-कभी प्राप्य को छोड़ना और भी कठिन हो जाता है। यदि आंशिक त्याग से भी काम चल जाय तो वह लड़ाई से महंगा नहीं पड़ता। लड़ाई में दोनों की बरबादी होती है और सम्पत्ति का काट छांट होते-होते बच जाय तो पक्षों का अहोभाग्य। न्यायाधीश के न्याय में अधिकार की भावना रहती है समझौते में आपसी सद्भावना और परस्परिक आदान प्रदान रहता है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है।

जूझे तै भल बूझिबो, भली जीति से हार।

डह के ते डहकाइबों भलो, जो करिय विचार॥

आप ठगने से ठगा जाना बहतर है। संसारिक बुद्धिमत्ता की दृष्टि से यह बात चाहे गलत लगे किन्तु नैतिक दृष्टि से यह मान्य होना चाहिए।

**निजी क्षेत्रों में समझौते :** निजी क्षेत्रों में, जहाँ सहज सम्बन्ध होता है, जैसा माता-पिता का, पति-पत्नी का, भाई-भाई का अथवा मित्र-मित्र का वहाँ समझौता और भी आवश्यक रहता है और प्रायः वहाँ अपेक्षाकृत सहज में हो भी जाता है। वास्तव में वहाँ दूसरे का हित अपना हित बन जाना चाहिए। दूसरे के हित का उत्तरदायित्व बड़े पर अधिक रहता है किन्तु छोटा भी अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होता है। वहाँ पर वास्तविक त्याग के लिए भी यह कहकर मन को संतोष कर लिया जाता है कि घी कहाँ गया? खिचड़ी में। किन्तु कभी-कभी इन सम्बन्धों में भी अहं जाग्रत होकर समझौते में बाधा डाल देता है। इसी अहं के कारण छोटी-छोटी बातों पर भी लोग लड़ बैठते हैं! अहं कभी-कभी स्वाभिमान का भव्य रूप धारण कर लेता है। वही भाई-भाई राजा और प्रजा और पति-पत्नी के बीच में

समझौता होने से रोक देता है। हमको चाहिए कि अहं को व्यक्ति में संकुचित न करके उसे जितना विस्तृत रूप दे सकें दें। वसुधैव कुटुम्बकम् की बात मानना जो “उदारचरितानां है” की बात है किन्तु कुटुम्ब को तो कुटुम्ब माना ही जाए। हम दूसरों के दोषों को अधिक देखते हैं। हमको गोस्वामीजी के अमर वाक्य याद रखना चाहिए “परगुण नहि दोष गहोंगे” भगवान रामचन्द्र की यही विशेषता थी कि वे एक बार किये हुए उपकार को सौ बार याद रखते थे। यदि हममें यह वृत्ति आ जाय तो हम अपने हितों का थोड़ा बलिदान करने को भी तैयार हो सकते हैं। निजी सम्बन्धों में तो हमें ‘घी कहाँ गया? खिचड़ी में’ की लोकिक्ति को याद कर कुछ उदार बना रहना चाहिए। लड़के या शिष्य से तो केवल विद्या में ही नहीं सभी बातों में “पुत्रादिच्छेत् पराजयं” की नीति बर्तनी चाहिए। हाँ ! इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उस पराजय में लड़के का अहित न होता हो। यदि अहित होता हो तो कुछ निर्ममता के साथ भी उसे सचेत कर देना चाहिए।

हम लोग संसार को नश्वर मानते हुए भी जरा-जरा सी बात को इतना महत्व देते हैं कि सहज ही में महाभारत छिड़ जाता है। हमारे पास जो हानि पहुँचाने की शक्ति होती है उस पर हम गर्व करने लग जाते हैं और सोचने लगते हैं कि वह शक्ति किस रोज काम आयगी? हमारे पास धन है, वकील का संकेत है, न्याय का सौदा कर सकते हैं, हम प्रभावशाली हैं, दूसरे को पदच्युत करा सकते हैं। वह हमारा आश्रित है, जायगा कहाँ हम उसे भूखें मार सकते हैं? वास्तव में सज्जन पुरुषों को हानि पहुँचाने की शक्ति पर नहीं वरन् लाभ पहुँचाने की शक्ति पर गर्व करना चाहिए यदि गर्व करना ही हो।

लड़ने से पहले विवादग्रस्त वस्तु या विषय का मूल्यांकन कर लेना वाँछनीय है। सोचना चाहिए मानसिक शक्ति के मूल्य में वस्तु महंगी तो नहीं है। वस्तु का मूल्य अधिक है अथवा उसके लिए सिर खपाना या परेशान होने का पीर दूर करने के लिए भी आँख फूटना भी पसन्द कर लेते हैं।

हमें सोचना चाहिए कि धन से जन का अधिक महत्व है। जिससे हम झगड़ा मोल लेते हैं उसके पूर्वकृत उपकारों को याद करना झगड़ों को कम करने में सहायक होगा, गुरु के स्नेह और उसकी सद्भावना को तुला में रखना चाहिए। मन मुटाव हो जाने से जो सरदर्द और परेशानी खड़ी हो जाती है और जो सहज सौहार्द और अपनत्व की प्रसन्नता से वंचित हो जाना पड़ता है उसे भी न भूलना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है :--

जो परिपायँ मनाइए तासों रुठि विचार।

तुलसी तहाँ न जीतिए, जहाँ जीतेहू हारि।।



**व्यापारिक क्षेत्रों में :** यद्यपि व्यापारिक क्षेत्र में निजी सम्बन्ध के समझौते का उत्तरदायित्व नहीं होता है तथापि वहाँ पर भी व्यवहार की सत्यता अपेक्षित है। व्यापार में खरीदने वाले का उत्तरदायित्व होता है कि वह आँख खोलकर वस्तुओं को देखे और खरीदे किन्तु किन्तु बेचने वाला का भी नैतिक उत्तरदायित्व होता है कि वह माल की न्यूनताओं से खरीदार को विगत करा दे। मुनष्य को कानूनी उत्तरदायित्व से ऊँचा उठकर नैतिक उत्तरदायित्व को अपनाना सीखना चाहिए। कानूनी उत्तरदायित्व का पालन तो न्याय की खाना पूरी करा है। वह कर्तव्य नहीं बेगार है, यदि व्यापार के क्षेत्र में मनुष्य नैतिक बुद्धि से काम ले। व्यापार से मेरा अभिप्रायः सभी गैर निजी सम्बन्धों से है- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी इसी प्रकार के होते हैं।

**अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में समझौता :** अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में समझौता जरा कठिन होता है क्योंकि वहाँ स्वाभाविक बन्धन जैसे जातीय या भाषा के तो कम होते हैं, यदि सम्बन्ध होते हैं तो स्वार्थ के। जब तक स्वार्थ रहता है तब तक राष्ट्र मित्र है, परम्परागत सम्बन्धों की भी खूब दुहाई दी जाती है और जहाँ स्वार्थ टकराते हैं तो 'यूयं यूयं, वयं वयं' तुम-तुम हो और हम हम हैं। पारिवारिक मामलों में घर का कर्ता देश के नेता की अपेक्षा कुछ अधिक अधिकार रखता है। उसकी बात को सब स्वाभाविक रूप से मानते हैं और यदि थोड़ा बहुत इधर उधर हो जाय तो जैसा पहले कहा गया है घी खिचड़ी में ही रहने की बात होती है। देश का नेता देश का प्रतिनिधि मात्र होता है वह बिना वकालत नामे का वीकल होता है। जितना वह अपने देश के प्रति ईमानदार होता है उतना ही उत्तरदायित्व होता है कि दूसरे पक्ष को न्यूनान्यून दिया जाय क्योंकि देश की सम्पत्ति उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त जो आक्रमणकारी कभी होता है वह तो समझौते के लिए उत्सुक रहता है क्योंकि उसे तो कुछ मिलने की आशा रहती है। आक्रान्त देश सहज में समझौते को तैयार नहीं होता क्योंकि उसकी गाँठ की पूंजी हाथ से जाने की सम्भावना रहती है। काश्मीर की समस्या ऐसी ही उलझनों से और भी जटिल हो गई है। इसके अतिरिक्त जातीय स्वाभिमान भी बाधक होता है। शक्तिशाली देश तो "परम स्वतंत्र सिर पर न कोई" के मद में चूर रहते हैं। वे शक्ति को ही न्याय का मापदण्ड समझते हैं "जिसकी लाठी उसकी भैंस"। वे सोचते हैं कि यदि हमारे पास शक्ति है तो हम समझौते के लिए क्यों तैयार हों? कुछ देश जो स्वयं शक्तिशाली नहीं होते अपने प्रतिद्वन्दियों को नीचा दिखाने के लिए बड़े शक्तिशाली देशों के पिछलग्गू और आज्ञाकारी भृत्य भी बन जाते हैं। पराये अपशकुन के लिए कभी-कभी अपनी नाक भी कटाई जाती है। किन्तु शक्ति का यह भरोसा और उसके प्रयोग परिणाम में संहारक होते हैं, कभी-कभी स्वतन्त्रता से भी हाथ धोने पड़ते हैं।

शक्ति की उपासना ने ही जर्मनी को छिन्न-भिन्न कर दिया। यदि विश्व से युद्ध कांड मिट जावें तो समझौते बहुत जल्दी हो सकते हैं। समझौते राष्ट्रीय अहंभाव को छोड़कर कूट नीति से नहीं वरन् धर्म नीति से होने चाहिए। इसके लिए विश्वमानवता और युद्ध बन्दी के प्रचार की आवश्यकता है। एक बार यदि यह संकल्प कर लिया जाय कि किसी परिस्थिति में युद्ध नहीं होगा तो समझौता सहज हो जाय। युद्ध के भय से किये हुए समझौते पक्षों की स्वेच्छा से नहीं होते। समझौते भय से नहीं वरन् हृदय परिवर्तन से होते हैं। हृदय परिवर्तन की तभी सम्भावना होती है जबकि एक पक्ष दूसरे पक्ष को कष्ट देने की अपेक्षा कष्ट सहने को तैयार हो जाय। जब कष्ट सहकर भी हृदय परिवर्तन नहीं होता तब सच्ची परीक्षा का समय आता है। इसके लिए धैर्य चाहिए किन्तु धैर्य की सीमा होती है। आग लगने पर धैर्य नहीं रखा जाता। फिर भी ऐसी परिस्थितियां लाने का प्रयत्न करना चाहिए कि धैर्य बना रहे। यत्न अपना काम है।

“हारिये न हिम्मत विसारिये न राम”

**समझौते में स्थायित्व :** राजनीतिक समझौता के चिरस्थायी होने के लिए कई बातें आवश्यक हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि समझौते दोनों पक्षों की स्वेच्छा से हों, किसी एक पक्ष या तीसरे पक्ष की शक्ति के दबाव से न हों। तलवार की नोक से कराये गये हस्ताक्षर प्रायः जल्दी मिट जाते हैं। समझौते बराबर के स्तर पर होने चाहिए। समझौते की बात प्रारम्भ होते ही श्रेष्ठता और हीनता अपराधी और न्यायाधीश की भावना का निराकरण हो जाना आवश्यक है। दोनों पक्षों के स्वाभिमान की रक्षा वांछनीय है। समझौते के बाद भी किसी पक्ष को नीचा दिखाने का प्रयत्न न करें और दोनों अपने अहंभाव को संयत रखें तो समझौते चिरस्थयी हो सकते हैं। निजी सम्बन्धों में भी यही नीति बर्तनी चाहिए तभी समझौते चिरस्थायी हो सकते हैं।

**समझौते की सीमाएँ :** समझौते की सीमा होती है। कभी-कभी कहना पड़ता है कि बुराई के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। बुराई के साथ समझौता करने की सलाह कोई न देगा किन्तु बुरे के सुधार के लिए उससे कभी-कभी समझौता करना पड़ता है। बुरे को “मूर्ख हिरदै न चेत” कहकर और अधिक बुरा बनने के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। यद्यपि दूसरे के कार्यों में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप करना उचित नहीं है तथापि हमको इतना स्वार्थी भी न हो जाना चाहिए कि हम दूसरे के बिगड़ने या सुधरने के प्रति उदासीन रहें। दूसरे के सुधरने से अपना भी सुधार होगा। हमको यह भी ध्यान रहे कि “बुराई से समझौता नहीं हो सकता” की बात हमारे हृदय की शुद्धता से प्रेरित हो। बहुत से ऐसे वाक्य, दम्भ प्रेरित होते हैं।

ऐसा न होना चाहिए। दम्भी धर्मात्मा से दीन पापी ही अधिक पुनीत है।

**समन्वय :** समझौता का सम्बन्ध व्यवहार से अधिक है, समन्वय अधिक विचारगत और बौद्धिक हैं। समन्वय में यह भावना रहती है कि दूसरे पक्ष में जो कुछ सार और महत्व है वह अपने विचार या पक्ष में सम्मिलित हो जाय। समन्वय कर्ता दूसरे पक्ष में कुछ सार है ऐसा समझकर आगे बढ़ते हैं। समन्वय में दूसरे पक्ष के प्रति आदर भावना रहती है। हठवादी समन्वय से दूर भागता है। समन्वय में एकांगिता नहीं रहती। हमको यह समझ लेना चाहिए कि दूसरा पक्ष जो अस्तित्व में आता है वह किसी सत्य पर ही अवलम्बित होता है चाहे वह सत्य अपनी उचित सीमाओं का अतिक्रमण कर गया हो। समन्वयकारी दोनों पक्षों के अतिवादों का निराकरण कर सत्यांशों का सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण करता है। अतिवादों के छट जाने से परस्पर में विपरीत दिखाई देने वाले छोर भी एक दूसरे से मिल जाते हैं। समन्वय भारतीय संस्कृति के एक तत्वों में से हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि भारत सत्य का सदा आदर करता आया है। सत्य जिस रूप में मिलता उसको वह ग्रहण करता है। भारतीय मनीषी सत्य को सीमित नहीं मानता है। समन्वय की भावना रखने वाले एकांगीपन से बचता है और वह हठवाद में नहीं पड़ता। इसलिए वह बेमतलब के वाद विवाद से बचा रहता है। समन्वयवादी किसी को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता।

समन्वयवादी के लिए प्रायः यह कहा जाता है कि वह दृढ़निश्चयी नहीं होता है, उसको कभी-कभी 'वे पेंदी के लोटे' पद से भी विभूषित कर दिया जाता है। उसका नकार शिथिल बतलाया जाता है। यह बात ठीक है कि सत्य को आगे बढ़ाने वालों में प्रायः वे लोग हुए हैं जो अपने पक्ष पर दृढ़ रहे हैं। मूर्खों में जो हठवाद कहलाता है वह पंडितों में दृढ़ता के नाम से पुकारा जाता है। यदि समन्वय बुद्धि दूसरे के मत के प्रति आदर की परिचायिका है और सत्य के प्रति आदर की द्योतिका है तो हमको अपनी दृढ़ता की अपेक्षाकृत न्यूनता से लज्जित होने की बात नहीं। सत्य का उन्नति पथ विपरीतों के समन्वय से ही प्रशस्त होता है।

**समन्वय की सीमा :** समन्वय को केवल समन्वय के लिए न किया जाय। ऐसा समन्वय तेल पानी के मिश्रण की भांति अलग हो जाता है। समन्वय सत्य के आग्रह पर आश्रित है। पहले दूसरे के पक्ष में सत्य के दर्शन करने की प्रवृत्ति आनी चाहिए, तभी समन्वय हो सकत है। ऐसी बात नहीं कि दूसरे पक्ष में सत्य का अंश नहीं उसके देखने के लिए सहृदय और निष्पक्ष दृष्टि चाहिए। यह बात अवश्यक है कि किसी पक्ष में अधिक सत्य होगा और किसी में कम। इसलिए समन्वय में हमेशा दोनों पक्ष के सम भाग आने की सम्भावना नहीं रहती है। लोग कहते हैं राम रावण का समन्वय नहीं हो सकता किन्तु रावण में भी कुछ श्लाघनीय गुण थे। उसमें दृढ़ता

और विफलताओं से विचलित न होने तथा अन्तिम समय तक आशा और आत्म विश्वास बनाये रखने के गुण अनुकरणीय थे। उसमें इतना ही दोष था कि उसका राम पर अर्थात् सत से वैर था। राम और रावण का समन्वय हो सकता है किन्तु समान स्तर पर नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि समन्वय न तो केवल समन्वय या दूसरे पक्ष की प्रसन्नता के लिए होना चाहिए और न कृत्रिम रूप से। जो बातें मेल खा सकती हैं उन्हीं का मेल किया जाय। बेमेल तत्वों का मेल न किया जाय। जहाँ मौलिक मतभेद हो वहाँ भेद बनाए रखने का ही समझौता ठीक है। मौलिक भेदों के कारण वैमनस्य न आना चाहिए। मनुष्य का मूल्य सिद्धान्तों से भी अधिक है। सिद्धान्त हमारे लिए मान्य हैं, वे हमारे चरित्र के नियामक हैं किन्तु मनुष्य हमारे लिए पूज्य है। सिद्धान्तों की रक्षा के लिए मनुष्यों की हत्या करना बुद्धिमानी नहीं। अहिंसा और मानवता को त्याग कर मानव मानव नहीं रह सकता।

सिद्धान्तों की तो सबको स्वतन्त्रता रह सकती है किन्तु कर्म की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती है क्योंकि कार्य घातक भी हो सकते हैं। इसीलिए आतताइयों की हत्या, हत्या नहीं कही गई है किन्तु इसे आपत्ति धर्म के रूप में स्वीकार करना चाहिए। अपवाद का सहारा लेकर उसका नियम बना उचित नहीं और मानव कौशल इस बात में है कि ऐसी परिस्थिति लाई जाय कि लोग आतताई न बनें। राम राज्य में दंडनीय कोई नहीं रहता (दंड सजा के रूप में नहीं डंडे के रूप में) केवल संन्यासियों के हाथ में रहता था। “दंड जतिनकर” का राम राज्य अभी बहुत दूर है। ‘हिनोज दिल्ली दूरस्त’ मनुष्यों को अभी तक की विफलताओं से हार माननी न चाहिए। न्याय और नीति के प्रचार से ऐसी परिस्थिति आ सकती है जिसमें वैयक्तिक और राष्ट्रीय आतताईपन की गुँजाइश न रहे? यदि रहे भी तो मनुष्य की कम से कम क्षति हो। हमको ऐसा सत्साहित्य उत्पन्न करना चाहिए जिससे मनुष्य का मूल्य समझा जा सके, उसे गाजर मूली की भाँति काटे छाँटे जाने की वस्तु न समझा जावे। तभी यह सम्भव है कि युद्ध के विरुद्ध लोगों की प्रतिक्रिया हो। अशोक के उदाहरण जगत में थोड़े हैं। भारत उनका ही आदर्श लेकर शान्ति का सन्देश चारों ओर प्रसारित कर रहा है। भातर का पंचशील का सिद्धान्त संसार से युद्ध की विभीषिका हटाने में सहयोग देगा। किन्तु भारत का यह प्रमुख कर्तव्य होगा कि उसके मनीषी आन्तरिक और बाह्य शान्ति को अनाये रखने के साधनों का गम्भीरतापूर्वक विचार करें जिससे कि विश्व शान्ति का स्वप्न चरितार्थ हो सके।

---

## मानवता के आधार स्तम्भ

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान ।

सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण ॥

गांधीवाद हमें जीवन पर देता अंतर्गत विश्वास,

मानव की निस्सीम शक्ति का उसमें मिलता चिर आभास ॥

—सुमित्रानन्दन पंत

दो अक्तूबर महात्मा गाँधी का जन्म-दिवस है। आज के दिन संसार में एक नई ज्योति का प्रकाश हुआ। महात्मा गांधी महामानव कहे जाते हैं-- महामानव का अर्थ अतिमानव नहीं; वे पूर्ण मानव थे। मनुष्य ने अपने बुद्धिबल से देवताओं और दानवों की-सी अतिमानवीय शक्तियां अपने लिए सुलभ कर ली हैं, किन्तु वह मनुष्य या मानव नहीं बन सका है। मनुज या मानव होना कोई हीनता की बात नहीं।

मनुष्य का शरीर विकास-क्रम की चरण परिणति है-- 'नर समान नहि कौनहु देही' और उसके भीतर बसा हुआ जीवन ईश्वर का अंश है-- 'ईश्वर अंश जीवन अविनाशी'। बाहर-भीतर दोनों ओर से श्रेष्ठता और आभिजात्य के प्रमाण-पत्र प्राप्त मनुष्य होना हमारे लिए एक गौरव की बात है, यदि वास्तव में हम मानवता के गुण अपना सकें। मनुष्य के लिए अपने को अक्ल का पुतला सिद्ध कर देना सहज है, किन्तु उसके लिए मनुष्य सिद्ध करना कठिन है। आज का मनुष्य मनुष्य नहीं है। इसमें चाहे तार्किकों को वदतोव्याघात दिखाई दे, किन्तु बड़े दुःख के साथ यह सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि उसने देवत्व अर्थात् आत्मा के प्रकाश से सम्बंध रखने वाले गुणों की अपेक्षा संहारकारी दानवी दुर्गुणों के सम्पादन की अधिक चेष्टा की है। उसने मानवी वृत्तियों की अपेक्षा पाशवी वृत्तियों को अधिक अपनाया है।

आइए, उस पूर्ण मानव के जन्म-दिवस पर मानवता के गुणों पर विचार करें।

**मानवता के गुण :** आत्मा का प्रकाश और विकास तो सब स्थानों में हैं। मिट्टी के ढेले से लगाकर सब निर्जीव पदार्थों में भी और कीरी से कुंजर तक सजीव पदार्थों में तथा उनके सुकृटमणि मानव देव में भी ; किन्तु मानव में वह सबसे अधिक है। नरत्व नारायणत्व की सीढ़ी है। आत्मा हमको विस्तार की ओर ले जाती है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाती है। मानवता के इसी व्यापक दृष्टि कोण से हम मानवता के इसी व्यापक दृष्टिकोण से हम मानवता सम्बन्धी गुणों पर विचार करेंगे।

**सत्य :** सत्य मानवता का एक मौलिक सिद्धान्त है। सत्य भीतर-बाहर दोनों

ही वांछनीय है। सत्य को मनसा-वाचा-कर्मणा अपनाना चाहिए। सत्य बात का गोपन करना भी उतना ही असत्य है जितना कि असत्य बोलना। शाब्दिक सत्य का ही निर्वाह आवश्यक नहीं, वरन् उसके हार्द या उसकी आत्मा का भी।

सत्य के ऊपर ही निजी और सामाजिक एवं अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध स्थिर रह सकते हैं। कथनी की पुष्टि करनी से होनी चाहिए। सच्ची मानवता दिखावा नहीं स्वीकार करती। अपनी कमजोरी को स्पष्ट रूप में स्वीकार कर लेना सदाचारी बनने की विडम्बना से कहीं श्रेयस्कर है। जो मनुष्य अपनी कमजोरी को स्वीकार कर लेता वह दूसरों की कमजोरियों के प्रति साहनुभूति दिखा सकता है।

**दूसरे के दृष्टिकोण को महत्व देना:** मानवता के दृष्टिकोण से सभी पक्षों के सत्य को देखना चाहिए। हम यदि मालिक हैं तो नौकर के, यदि साहूकार हैं तो देनदार के, यदि अध्यापक हैं तो विद्यार्थी के दृष्टिकोण के विपरित पक्षों का अध्ययन करना आवश्यक है। सत्य के एक ही पक्ष पर बल देने से मनुष्य दूसरे के साथ न्याय नहीं कर सकते। न्याय भी सत्य का ही एक व्यावहारिक रूप है। न्याय अपने और दूसरों के कर्तव्यों और अधिकारों के सत्य की स्वीकृति है। न्याय का अर्थ अपने लिए ही न्याय नहीं, वरन् दूसरों के लिए भी-- उसी मानदण्ड से जिससे हम अपने लिए चाहते हैं। हम को बेचने और खरीदने के बाँट एक से रखने चाहिए। उसी मानदण्ड से हमको हरिजनों और अन्य शोषित वर्गों के साथ न्याय करना सिखाने के लिए ही महात्मा गांधी ने हरिजन आन्दोलन को महत्व दिया। समस्या को दूसरों की आँखों से भी देखना आवश्यक है।

महात्मा गांधी की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वह दूसरे के पक्ष को सबसे अधिक महत्ता देते थे। वह उसका पूरा-पूरा ईमानदारी के साथ अध्ययन करते थे। चम्पारन में गौरे जमींदारों के विरुद्ध आन्दोलन शुरू करने से पहले उन्होंने उनके पक्ष का पूरा अध्ययन कर लिया था।

अहिंसा भी सत्य का पूरक रूप है। अहिंसा व्यवहार का सत्य है। अहिंसा में दूसरे के अधिकारों की विशेषकर जीवनाधिकार की स्वीकृति रहती है। अहिंसा भी मनसा-वाचा-कर्मणा तीनों से ही होती है। अहिंसा के पीछे 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त रहता है। सह-अस्तित्व का सिद्धान्त हिंसा पर ही आधारित है। जहाँ अहिंसा का मान नहीं वहाँ मानवता नहीं ! अहिंसा मानवता पर्याय है। मनुष्य को उस जान के लेने का कोई अधिकार नहीं जिसको वह दे नहीं सकता। हिंसा केवल जान लेने में ही नहीं है, वरन् दूसरे के स्वत्वों और स्वाभिमान को आघात पहुँचाने में भी होती है।

( ५६ )

**पर-स्वाभिमान रक्षा :** दूसरों के स्वाभिमान की रक्षा अर्थात् किसी में हीनता का भाव न उत्पन्न होने देना मानवता की प्रमुख मांग है। रंग, रोग, अकुलीनता और किसी अंश में निर्धनता भी मनुष्य के हाथ की चीजें नहीं हैं, उसके लिए उसे नीचा समझना या उसे उसकी हीनता का अनुभव कराना जले पर नमक छिड़कना है। नैतिक पतन के लिए हम किसी का बहिष्कार कर सकते हैं, किन्तु उसमें भी सहृदयता अपेक्षित रहती है। उसके पतन के कारणों को समझना और उनको दूर करना मानवता के अन्तर्गत है।

**शिष्टता :** यह गुण, वचन और व्यवहार दोनों से सम्बन्धित है। यह भी सत्य का एक पूरक अंग है 'सत्यं ब्रूयात्' ही आवश्यक नहीं है, 'प्रियं ब्रूयात्' भी अपेक्षित है। वचन की प्रियता ही दूसरों में हीनता-भाव को उत्पन्न होने से रोकती है। जो लोग सत्य को प्रिय रूप नहीं दे सकते, उनका अहं प्रबल हो जाता है। अहंभाव समाज में टकराहटें पैदा करता है और संघर्ष का जनक बन जाता है। विनय विद्या का ही भूषण नहीं, वरन् सत्य का भी भूषण है। शिष्टता विनय का ही दूसरा नाम है। हमारी शिष्टता सत्य-समन्वित होनी चाहिए। शिष्टता दम्भ या धोकेबाजी का रूप न धारण करने पाए, इसका हमेशा ध्यान रखना चाहिए।

**सहिष्णुता :** सहिष्णुता एक ऐसा गुण है, जो सत्यवादी के लिए आवश्यक है। उसमें अपने सत्य के प्रतिपादन के लिए कष्ट सहन की ही क्षमता नहीं होनी चाहिए, वरन् धैर्यपूर्वक दूसरों की बात को सुनने की और सोचने की क्षमता होनी चाहिए। जो इस प्रकार की सहिष्णुता नहीं रखते, वे सत्य को एकांगी बना देते हैं। पर-धर्म-सहष्णुता शान्ति का एक आवश्यक उपकरण हैं।

श्रीमद्भागवद्गीता में आत्मौपम्य दृष्टि की इस प्रकार व्याख्या की गई है--

**आत्मौपम्य दृष्टि :** अत्मौपम्यन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

आत्मौपम्य दृष्टि से जो सबको एक-सी दृष्टि से देखता है और सोचता है कि जिस चीज में मुझे सुख होता है उसमें दूसरे को सुख होगा और जिसमें मुझे दुःख होगा उसमें दूसरे को भी दुःख होगा, वही परम योगी है। इसीलिए कहा गया है, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। जो सब मानवों को समान रूप से देखता है, वही सच्चा मानव है। मानवता का गुण मानवों के प्रति-व्यवहार में ही सीमित नहीं है वरन् मानवेतर सभी प्राणियों के सम्बन्ध में लागू होता है। तभी भगवान ने गीता में कहा है--

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् पंडित लोग विद्या और विनय से सम्पन्न (विद्या के साथ विनय को ब्राह्मण के लिए भी आवश्यक माना गया है) ब्रह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान दृष्टि रखते हैं। सहानुभूति भी आत्मौपम्य दृष्टि का ही एक रूप है। सहानुभूति आत्मा के विस्तार का परिचायक है। जो मनुष्य सबमें एक ही आत्मा का विस्तार जानते हैं, वे अवश्य दूसरों के साथ सहानुभूति रखेंगे।

**निर्बल पर बल-प्रदर्शन न करना :** निःशस्त्र, स्त्री और रोगी पर हथियार चलाना वीरता के विरुद्ध माना गया है। हम लोगों की यह साधारण सी कमजोरी है कि सबल के आगे दब जाते हैं और निर्बल पर अपना अधिकार जताने का प्रयत्न करते हैं। उसको अपनी शक्ति से आतंकित करने से भी नहीं चूकते। सच्चा मानवतावादी अपनी हानिकारक शक्तियों पर कभी गर्व नहीं करता। उनके लिए तो वह सदा लज्जित ही रहता है। हमें निर्बल को अपनी शक्ति का भय नहीं दिखाना चाहिए, क्योंकि भय की प्रीति स्थायी नहीं होती और दूसरे को कमजोर बना देती है। सबल के भय से असत्य को स्वीकार करना या उसमें सहयोग देना कमजोरी और कायरता है। सत्यवादी सदा निर्भय रहता है। 'अभय' तभी दैवी गुणा माना गया है। निर्बल और पतितों को हमें सहानुभूतपूर्ण आदर करना चाहिए। हरिजनों के पास हम उद्धार की भावना से न जाएं, वरन् उनकी सहायता भी सेवा-भावना से करें, अधिकार प्राप्ति की भावना से न करें।

**अधिकार-भावना का त्याग :** सच्चा मानवतावादी अधिकृत को अपनी अधिकार-भावना से कभी आतंकित नहीं करता है। न वह विद्या और धन के वैभव से दूसरों को आक्रान्त करता है। शासित, सेवक तथा हिन्दू-समाज में स्त्रियां, नीच वर्ण के लोग और बेटीवाले प्रायः अधिकृत समझे जाते हैं और दूसरे पक्ष-वाले अपने को अधिकारी समझकर अपनी इच्छाओं की अनुचित पूर्ति को भी धर्म समझते हैं। यह दूषित मनोवृत्ति है। यह समत्व भावना और मानवता के विरुद्ध है।

**पर-गुणग्राहकता :** गोस्वामी तुलसीदासजी ने सन्त-स्वभाव की प्राप्ति के लिए उत्कंठा प्रकट करते हुए कहा है-- 'परगुण, नहीं दोष कहोंगो'। तुलसी ने अपनी दीनता में अपने जो दोष गिनाए हैं उनमें एक यह भी है कि वह अपने समुद्र समान पापों को जल-कण बराबर बताने पर भी लड़ पड़ते हैं और दूसरे के कण-समान अवगुणों को पहाड़ के बराबर बना लेते हैं तथा दूसरे के पहाड़ बराबर सद्गुणों को रजगण के समान समझते हैं।

जानत हौं निज पाप-जलधि जिय जल-सीकर सम सुनत लरौं ।

रज सम पर अवगुन सुमेरु करि गुन-गिरि सम रज तैं निदरौं ॥



( ५८ )

दूसरे के गुणों की अवमानना करना या अवगुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना मानवता के विरुद्ध है। इसी प्रकार दूसरे के द्वारा किए हुए अपकार को याद रखना और उपकार को भूल जाना सज्जनता के विरुद्ध है। सज्जन लोग मित्रता और उपकार को पत्थर की लीक के समान, मध्यम लोग बालू की लकीर के भाँति जो कुछ देर तक बनी रहती हैं और फिर मिट जाती हैं और नीच लोग पानी की रेखा के समान, जो तुरन्त मिट जाती हैं, अपने मन पर अंकित रखते हैं। बैर के सम्बन्ध में सज्जन, मध्यम और नीच लोगों का व्यवहार इससे विपरीत होता है। सज्जनों के लिए वह पानी की लकीर के समान होता है, मध्यम लोगों के लिए बालू की लकीर के समान और नीचे के लिए पत्थर की लकीर के समान होता है। कहने का तात्पर्य यह कि सज्जन उपकार और मित्रता को अधिक याद रखते हैं और दुर्जन शत्रुता को। सज्जन शत्रुता को शीघ्र ही भूल जाते हैं।

उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन, सिकता पानि।

प्रीति परिच्छा तिहुन की, बैर बितिक्रम जानि ॥

मानवता का व्यवहार सभी क्षेत्रों में अपेक्षित है, चाहे वह निजी सम्बन्ध हो, चाहे व्यापारिक और चाहे राजनीतिक। महात्मा गांधी की सबसे बड़ी यही विशेषता थी कि उन्होंने राजनीतिक में भी सत्य और मानवता का मानदण्ड ऊँचा किया। उनके हाथों में राजनीति कूटनीति न रहकर धर्मनीति बन गई है। उस महात्मा को शत-शत नमस्कार है। ईश्वर हमको वह सद्बुद्धि दे कि हम उनके अपनाए हुए मार्ग को अपना सकें।



## राष्ट्रीयता और उसके बाधक

अपने राष्ट्र को एक स्वतः पूर्ण और अविभाज्य इकाई मानकर उसके हताहित से तादात्म्य करने तथा उसके अति गर्व की भावना रखने को राष्ट्रीयता कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि राष्ट्रीय भावना में वैयक्तिक स्वातंत्र्य, परिवार, प्रान्त, भाषा, राजनीतिक विचार, धर्म या सम्प्रदाय को तिलांजलि दे दी जाए। इनको तिलांजलि देना मनुष्य को अपनी भावना और शक्ति के स्रोतों को बन्द कर देना होगा। भावना से शून्य मनुष्य पुच्छ-विषाण-युक्त पशु से निम्न कोटि का बन जाता है। राष्ट्रों के सह-अस्तित्व की भाँति इनका भी राष्ट्रीयता के साथ अवरोध भाव से सह-अस्तित्व सम्भव है। अवरोध भाव से काम को भी परमात्मा का स्वरूप माना गया है--धर्मविरुद्ध भूतेषकामोऽस्मि भरतर्षभ।' सामंजस्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक होता है।

**सीमाएँ :** स्वयं राष्ट्रीयता मी, जब यह पार्थक्य भावना उत्पन्न कर विरोध और असामंजस्य स्थापित करती है, दूषित हो जाती है, राष्ट्रीयता की भी सीमाएँ हैं, उसको भी व्यापक मानवता से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। जिस प्रकार राष्ट्रीयता की सीमाएँ हैं, उसी प्रकार वैयक्तिकता, पारिवारिकता, प्रान्तीयता, भाषा-प्रेम और साम्प्रदायिकता की भी सीमाएँ हैं। उन सीमाओं का उल्लंघन करना ही राष्ट्रीय हितों का बाधक होता है। आइए इन सब भावनाओं की सीमाओं पर विचार करें।

**वैयक्तिकता :** व्यक्ति राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई है, यह ठीक है; किन्तु कोई व्यक्ति शुद्ध और अमिश्रित इकाई नहीं होता। वह स्वयं कुछ अवश्य होता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व में माता-पिता समाज और जाति की भी व्यक्तित्व साम्मिलित होता है। शुद्ध निरपेक्ष व्यक्ति एक कल्पना हो सकती है, उसका वास्तविक अस्तित्व कठिनता से ही मिलेगा। फिर भी व्यक्ति एक व्यक्ति है। उससे स्वतन्त्र हित है, उनमें चाहे पारिवारिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक हित भी सम्मिलित क्यों न हों। उन हितों में व्यक्ति का जीवन है। हितों के साथ आदर्शों का भी प्रश्न लगा हुआ है। आदर्शों के लिए मनुष्य जीता और मरता है। आदर्शों में वह प्रायः अकेला नहीं होता, उसके साथ धर्म, सम्प्रदाय या दल का भी प्रश्न लगा रहता है।

**अविरोध :** व्यक्ति के हित चाहे वे शुद्ध स्वार्थपरक हों या किसी वर्ग, दल या सम्प्रदाय से सम्बन्धित हों, जब तक राष्ट्र के स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने में बाधक नहीं होते अथवा घोर असामंजस्य और असहिष्णुता पर आधारित अशान्ति का

वातावरण उपस्थित नहीं करते या दूसरों के समानता के अधिकारों से नहीं टकराते, तब तक वे क्षम्य रहते हैं। व्यक्ति का हित राष्ट्र का हित है। एक सम्पन्न व्यक्ति राष्ट्र के लिए देन या वरदान-स्वरूप रहता है (जब तक उसकी सम्पन्नता न्यायोचित साधनों से अर्जित की जाती है); उसकी वैयक्तिक भावना, जहाँ तक उसे परिश्रमशील बनाए रखने के लिए प्रेरक शक्ति का काम करती है, क्षम्य हो जाती है। किन्तु जहाँ वह दूसरों की वैयक्तिकता पर आक्रमण करती है वहाँ पर वह दोष की सीमा में आ जाती है।

**राष्ट्र के अधिकार की सीमा :** वैयक्तिक उन्नति के साधनों को जुटाने, सम्पत्ति की रक्षा, देश में सम्पन्नता और शान्ति का वातावरण बनाए रखने और व्यक्ति की शिक्षा और सुख-सुविधा के उपकरण उपस्थित करने के नाते राष्ट्र को व्यक्ति की सेवाओं और सम्पत्ति पर अधिकार है। किन्तु उसकी सीमाएँ हैं। मनुष्य को उद्योगशील बनाए रखने के लिए अपनी सम्पत्ति पर ममत्व की भावना आवश्यक है। राष्ट्र को उस ममत्व का आदर करना चाहिए और व्यक्ति को भी सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि तेन त्यक्तेन भुंजीथा; कि त्याग के साथ ही भोग श्रेयस्कर है।

**यज्ञ की भावना :** हम जो उत्पादन करते हैं, उसमें राष्ट्र के साथ अन्य लोगों का भी हाथ है। उनकी देन को कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हुए उस सामाजिक ऋण को चुकाने में व्यक्ति को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह सदा यज्ञ की भावना से 'इदं न मम, इदं लोकहिताय' काम ले; वह अपने को साधन मात्र समझे 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। समाज के हित की दृष्टि से जो काम किया जाता है वही यज्ञ बन जाता है।

**पारिवारिकता :** यज्ञ की भावना जितनी बढ़े, उतनी श्रेयस्कर है; किन्तु इसका सामंजस्य पारिवारिकता की एक उचित मात्रा से अवश्य होना चाहिए; क्योंकि परिवार भी व्यक्ति के निर्माण में बहुत अंश में सहायक होता है। व्यक्ति के लिए कभी-कभी पारिवारिकता और राष्ट्रीयता में संघर्ष की भावना उपस्थित हो जाती है। यद्यपि राष्ट्रीय हित सर्वोपरि है, तथापि परिवार के स्वाभाविक बन्धनों की उपेक्षा करना कठिन हो जाता है। राष्ट्र को इस मामले में उदारता से काम लेना चाहिए। फिर भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ राष्ट्र के लिए पारिवारिक हितों का बलिदान किया गया है। वे लोग धन्य समझे जाते हैं।

**राष्ट्र व्यक्ति से बड़ा है :** राष्ट्र के द्वारा व्यक्ति के हितों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए व्यक्ति को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्र की सुख-शान्ति और समृद्धि में योग देना उसका अनविवार्य कर्तव्य है। व्यक्ति अपने आदर्श और अपना व्यक्तित्व कायम रखे हुए उसे इस हद तक न ले जाए कि राष्ट्र की

शान्ति भंग हो या उसके हित या आदर्श उग्र रूप से राष्ट्र के हितों और आदर्शों से टकराएँ। राष्ट्र व्यक्ति, दल और सम्प्रदाय से भी बड़ा है। कभी-कभी व्यक्ति राष्ट्र की सफलता या विफलता का मूल्यांकन अपने मापदण्ड से करने लगता है यदि मैं सुखी हूँ तो राष्ट्र सुखी है; यदि मैं बेकार या गरीब हूँ तो राष्ट्र में बेकारी या गरीबी बढ़ी हुई है। यह दूषित और संकुचित मनोवृत्ति है। अपने को राष्ट्र से पृथक समझने से न राष्ट्र का भला होता है और न अपना। राष्ट्र के लिए की हुई निष्काम सेवा निष्फल नहीं जाती।

लोग पंडित जवाहरलाल के गौरव को राष्ट्र को गौरव नहीं समझते। वे कहने लगते हैं इससे हमें क्या। वे व्यक्ति में ही सीमित नहीं रहते हैं। वे मन्थरा के शब्दों में कहने लगते हैं--'कोऊ नृप होउ हमहिं का हानी चेरि छाँड़ि कि होउब रानी।' यद्यपि यह ठीक है कि बहुत से योग्य आदमी अपनी योग्यता के अनुकूल पद नहीं पाते, किन्तु वैयक्तिक असफलता विफलता आँकने में हमको उदार दृष्टि से काम लेना चाहिए। राष्ट्र की सफलता का उचित मूल्यांकन न कर हम कार्यकर्ताओं को निरुत्साह कर देते हैं और देश की भावी उन्नति में बाधक होते हैं। हमारी शिक्षा का यह दोष है कि हमको राष्ट्र के साथ तादात्म्य करना नहीं सिखाया गया है। राष्ट्रीय भावना को पुष्ट बनाए रखने के लिए राष्ट्र का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि बिना किसी सम्प्रदाय या दल के भेदभाव के सबको यह अनुभव करने का अवसर दिया जाए कि राष्ट्र उनका है। यह बात सुख-सुविधाओं और नौकरियों के सम्बन्ध में नहीं वरन् हित-चिन्तन के अधिकार में भी होनी चाहिए, बशर्ते कि दूसरे दल के लोग भी अवरोधक मनोवृत्ति को छोड़कर विचारों के आदान-प्रदान में उदारता से काम लें।

**प्रान्त, भाषा आदि:** वैयक्तिक हितों में तो दूषित स्वार्थ रहता है। किन्तु प्रान्त, भाषा, सम्प्रदाय और दल के प्रश्न व्यक्ति के संकुचित घेरे से ऊँचे उठकर कुछ उदारता का रूप लेकर आते हैं। उनका वृत्त कुछ विस्तृत अवश्य होता है, फिर भी संकुचित रहता है। जाति की भाँति प्रान्त का भी आकर्षण स्वाभाविक है। मनुष्य जहाँ की मिट्टी में खेला है, जिस भाषा को वह बचपन से बोलता है, उससे स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। स्थानीय प्रेम, भाषा, धर्म और साम्प्रदाय के बन्धनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु हमको यह न भूलना चाहिए कि राष्ट्र की रक्षा में प्रान्त, भाषा और सम्प्रदाय की रक्षा है। हमको प्रान्त, भाषा और सम्प्रदाय के प्रश्नों को इतना जटिल नहीं बना देना चाहिए कि राष्ट्र की शान्ति भंग हो और अधिकारी लोग निर्माण कार्य में न लगकर शान्ति की रक्षा में संलग्न रहें।

**प्रेम के बन्धन पर्थव्य के कारण न बनें :** जाति, प्रान्त, भाषा, सम्प्रदाय मानव समाज के वर्गों को आपस में बाँधते अवश्य हैं, किन्तु उनको पार्थव्य की

प्राचीरों न बना लेना चाहिए। इन भावनाओं का राष्ट्रीयता से विरोध नहीं है, यदि प्रत्येक, प्रान्त, समुदाय, जाति या दल के लोग अपने स्वाभाविक प्रेम-बन्धनों को आन्तरिक संगठन के सूत्र के रूप में प्रयोग कर उस संगठन को राष्ट्र के संगठन और उसकी पुष्टि और समृद्धि में योगदान देने के लिए उपयोग में लाएं।

**संकुचित और व्यापक हित :** यह ठीक है कि प्रत्येक प्रान्त जाति, वर्ग या सम्प्रदाय की समस्याओं को बहुत ऊंचे से नहीं सुलझाया जा सकता है। बहुत ऊंचे से तो देश की व्यापक समस्याओं के ही सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है। जाति बिरादरी या सम्प्रदाय की विशेष समस्याओं का जाति, बिरादरी वाले ही सुलझाएंगे। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रान्त वा जाति वा सम्प्रदायक के लोग राष्ट्र से बाहर हैं। प्रत्येक प्रान्त वा जाति वा सम्प्रदाय के लोगों की विशेष समस्याएं होते हुए भी उन लोगों के ऐसे व्यापक हित भी होते हैं, जो सारे राष्ट्र के लिए एक से होते हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। राष्ट्र का प्रश्न हमारे अन्न, वस्त्र, सुरक्षा और स्वाभिमान का प्रश्न है। इन प्रश्नों के साथ जीवन-मरण का सवाल लगा रहता है। कोई भी व्यक्ति, जाति, प्रान्त या सम्प्रदाय अपने विशेष हितों के लिए व्यापक हितों का बलिदान नहीं कर सकता। उनका बलिदान करना विचार-मूढ़ता होगी—‘अल्पस्य हेतोः बहुहातुमिच्छन् विचार मूढः प्रतभासि त्वम्।’ इसको अंगरेजी में ‘पेनी वाइज पाउंड फूलिश कहेंगे। इसी को ‘अशर्पियाँ लुटाकर झोपड़ियों की रक्षा’ कहते हैं।

**पार्थक्य-भावना से हानियाँ :** सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, बिरादरी आदि के बन्धन दृढ़ अवश्य हैं, किन्तु इतने नहीं कि उनके पीछे राष्ट्र का हित बलिदान करना पड़े। धर्म जीवन के प्रमुख मूल्यों में से है। वह व्यक्ति के जीवन को ऊँचा उठाने और व्यक्ति-व्यक्ति में साम्य तथा सद्भावना स्थापित करने में सहायक होता है, किन्तु कभी-कभी यह पार्थक्य की भावना जागृत कर अनर्थ का विधायक होता है। जहां धर्म को सर्वोपरि प्रधानता देकर एक धर्मवाले दूसरे धर्म के लोगों से लड़ते हैं, तब वे राष्ट्र की शक्ति को क्षीण कर देते हैं राष्ट्र धर्म की भी रक्षा कर सकता है, किन्तु वह किसी विशेष धर्म को एकनिष्ठ मान्यता नहीं देता। राष्ट्र के लिए सब धर्म समान हैं। साम्प्रदायिकता जब पार्थक्य और द्वेष की जननी होती है तब वह निन्द्य हो जाती है, किन्तु साम्प्रदायिकता के भय से धर्मभाव को तिलांजलि देना कूड़े-करकट के साथ गेहूँओं को भी फटक देना होगा। धर्म हमारी नैतिकता और सांस्कृतिकता का पोषक है। वह हमारे जातीय व्यक्तित्व के निर्माण में योग देता है। किन्तु संस्कृति को भी पार्थक्य का बहाना न बनाना चाहिए।

धर्म की संकुचित और पार्थक्य-भावना ने देश के दो टुकड़े कराए। पार्थक्य

के द्वारा पाकिस्तान के साम्प्रदायिक स्वाभिमान की पुष्टि हुई हो, किन्तु वहाँ के उत्पादित कच्चे माल का आर्थिक मूल्य कहीं अधिक होता यदि वह भारत में ही समिमत रहता। पाकिस्तान को बहुत-सी चीजों के लिए इतना अधिक मूल्य भी न देना पड़ता। उनको आर्थिक और सैकिन सहायता के लिए अमरीका का मुखपेक्षी बनना पड़ता है। वैज्ञानिक उन्नति भी, जो पूरे भारत के सहयोग से होती, पृथक् रह कर नहीं हो सकती। उनकी बात वे जाने, 'गतं न शोचामि' की बात है।

जितने छोटे प्रान्त होते हैं, उनका ही अधिक शासन का व्यय बढ़ता है और लोक-कल्याणकारी कार्यों में रुपया कम लगाया जाता है। पृथक प्रान्तों की मांग देश को आर्थिक हानि पहुँचाना है। भाषा के बन्धन बड़े दृढ़ और स्वाभाविक अवश्य हैं, किन्तु यदि भाषाओं के आधार पर विभाजन किए जायं तो एक-एक प्रान्त के कई-कई भाग हो जाएंगे और भारत की आर्थिक सुदृढ़ता को हानि पहुँचेगी।

**भाषा :** प्रत्येक प्रान्त अपनी भाषा पर गर्व कर सकता है। अपने घरेलू व्यवहार में प्रान्तीय भाषा का अवाधिक रूप से व्यवहार हो। सरल साहित्य की भी प्रान्तीय भाषाओं में सृष्टि हो। प्रान्तीय भाषाओं के समृद्धि राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की समृद्धि है। हम 'स्टीमरोलर' की एकता नहीं चाहते। हम विभिन्नता में एकता की सम्पन्न और समृद्ध एकता चाहते हैं। वह समृद्ध एकता तभी सम्भव हो सकती है, जब सब प्रान्तीय भाषाएं अपना-अपना अस्तित्व बनाए रखकर राष्ट्र की भाषा को सम्पन्न बनाने में योग दें। राष्ट्र के लिए एक भाषा का होना उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर के लिए एक केन्द्रीय स्नायु संस्थान। विकेन्द्रीकरण के वह विभिन्नता की ओर ले जाता है। राष्ट्रभाषा के केन्द्रीकरण और ऐक्य का एक साधन है।

देश में बहुत-सी भाषाओं का होना दुर्भाग्य की बात नहीं, किन्तु दुर्भाग्य इस बात का है कि हमको अन्तर्प्रान्तीय कारोवार चलाने के लिए एक विदेशी भाषा का आश्रम लेना पड़े। जब विदेशों में भिन्न प्रान्त के लोग अंगरेज में बातचीत करते हैं तब वे लोग आश्चर्य से पूछते हैं कि क्या आपके यहाँ कोई राष्ट्रभाषा नहीं है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना राष्ट्र की एक आवश्यकता की पूर्ति करना है। हमको अपने प्रान्त की भाषा के प्रेम में इतना स्वार्थपरायण न हो जाना चाहिए कि हम राष्ट्र के हितों का तिरस्कार करने लग जाएं। राष्ट्र से ही भाषा की समृद्धि है। भाषाएं राष्ट्र का अंग हैं, वे अंगी का स्थान नहीं ले सकती।

**अवयवावयवी सम्बन्ध :** शरीर के अवयवों की भाँति प्रान्त और सम्प्रदाय अपना स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य रखते हैं किन्तु वे केन्द्र पर उतने ही निर्भर रहते हैं जितने कि अवयव केन्द्रीय पाचन प्रणाली, श्वास-प्रणाली और रक्त-संचार प्रणाली पर। प्रान्तों की शक्ति केन्द्र की शक्ति है और केन्द्र की शक्ति प्रान्तों की शक्ति है।

( ६४ )

शरीर का कोई अवयव शरीर से स्वतन्त्र होकर नहीं पनप सकता है। इसी प्रकार प्रान्तों का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं रह सकता है। प्रान्त और केन्द्र के सहयोग में ही दोनों समृद्धि है।

**विचाराधारा और दल :** प्रत्येक राष्ट्र में विभिन्न विचारधाराएं चलती रहती हैं। यह उसकी समृद्धि और सम्पन्नता की परिचायक है। स्वतन्त्र देश में विचार का पूर्ण स्वातन्त्र्य रहता है, किन्तु इस स्वातन्त्र्य की भी सीमा है। यह स्वातन्त्र्य साम्य की अपेक्षा रखता है। स्वातन्त्र्य जब अपनी उचित सीमाओं का उल्लंघन कर बैठता है ब वह देश की गति में अवरोधक बन जाता है। विचारों का प्रचार अहिंसात्मक होना चाहिए। विचारधारा का मूल्य अवश्य है, किन्तु मनुष्य से अधिक नहीं। हम चाहे जिस विचार के हों, सामाजिक साम्य और शांति भंग करना उन विचारों का पक्ष गिराना है। समृद्ध राष्ट्र में ही विचार पन सकते हैं।

१५ अगस्त के पुण्यपर्व में हमको राष्ट्रीयता के प्रश्न पर ठंडे दिल से विचार करना चाहिए। राष्ट्रीयता के बाधक तत्वों को यथासम्भव अपने से दूर रखें और स्वयं भी ऐसा कोई काम न करें जिससे उन बाधक तत्वों को पोषण मिले। राष्ट्रीयता के बाधक तत्वों से दूर रहकर प्रत्येक व्यक्ति भारत की सैकड़ों वर्ष के प्रयत्नों से अर्जित स्वतंत्रता में सहयोग दे सकता है।

---

## वर्तमान असन्तोष के कारण ( हमरी शिक्षा की कुछ न्यूनतायें )

हम एक स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं। हमने चिरसंचित दासता के कलंक को धो डाला है। हम अपने देश में पूर्ण स्वामित्व सम्पन्न अधिकार घोषित कर चुके हैं और हमने बिना किसी भेदभाव को सबको समानता का अधिकार देने वाला प्रजातन्त्रात्मक संविधान भी बना लिया है। हम विदेशियों के स्वर में स्वर मिलाने वाले उनके पिछलग्गू नहीं रहे। हमारे देश की आवाज अन्तर्राष्ट्रीय सभा भवनों में गूँजने लगी है और हमारी बात को महत्व भी दिया जाता है। सारे विश्व में हमारा शांतिदूत होने का गौरवमय पद मान्य होता जा रहा है। हमको अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियों के सुलझाने का श्रेय भी मिल चुका है।

हमको अपनी उन्नति के साधनों पर भी विचार करने का अवसर मिला है। पहले हम अपने देश में भी विदेशियों की भाँति रहते थे। अब वह लज्जाजनक स्थिति बदल गई है। हमको अब अपना देश अपना कहने का अधिकार मिल है। हमारा मानसिक क्षितिज विस्तृत हो रहा है। देश में और विदेश में हमारा आत्म-सम्मान बढ़ा है।

### फिर भी असन्तोष

सोचा जाय तो स्वतन्त्रता का यह प्रसाद नगण्य नहीं, फिर भी हमारे सुख-मण्डलों पर सन्तोष, प्रसन्नता और आत्मसम्मान की वह झलक नहीं दिखाई देती जो एक स्वतन्त्र देश के लोगों के मुख पर होनी चाहिए। हमारे मुख पर उदासी छाई रहती है और जबान पर दबे हुए असन्तोष की ध्वनि सुनाई देती है।

### राष्ट्रीय शिक्षा का अभाव

इस असन्तोष के कुछ कारण तो अधिकारी वर्ग की लापरवाही और अनैतिकता में निहित हैं और कुछ उचित राष्ट्रीय शिक्षा के अभाव में। पहले प्रकार के कारणों में हमें लज्जा के साथ स्वीकार करना पड़ता है। गरीबी और बेकारी तो हमेशा से चली आई है। गोस्वामी तुलसीदासज के समय में भी थी। किन्तु यह बात हमारी गरीबी और बेकारी को क्षम्य नहीं बना देती है। सरकार की पंचवर्षीय आयोजना सम्बन्धी कार्य इसको कम करने में सहायक होग किन्तु लोगों की निर्माण-कार्यों में न तो रुचि है और न उसके योग्य हमको शिक्षा दी जाती है।



### किताबी शिक्षा पर बल

किताबी शिक्षा की माँग अब भी अधिक है। कॉलेजों में जब “स्थाना भाव” का राग नित्य सुनाई पड़ता है तो उसकी ही प्रतिध्वनि नौकरी के क्षेत्रों में भी सुनाई पड़ती है। शिल्प शिक्षा की विद्यार्थियों में इतनी माँग नहीं, जितनी कि विकास योजनायें अपेक्षा करती है। यह हमारी शिक्षा की सबसे पहली कमी है। सरकार की ओर से शिल्पीय शिक्षण संस्थाओं का प्रचार पर्याप्त मात्रा में नहीं होता है और वास्तविक बात यह है कि ऐसी शिक्षण संस्थाओं की भी कमी है। उच्च साहित्यिक शिक्षा हमारे मानसिक स्तर को अवश्य ऊंचा करती है, किन्तु उनसे देश की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती।

### संकुचित विचारधारा

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा की दूसरी कमी यह है कि हमने व्यक्ति, परिवार, प्रान्त व सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत वृत्तों की शब्दावली में सोचना नहीं सीखा है। हमारी विचारधारा कुछ-कुछ व्यक्तिवादी है। हमने व्यक्ति व राष्ट्र के अंगांगी भाव का अनुभव नहीं किया है कि व्यक्ति राष्ट्र से स्वतन्त्र होकर नहीं पनप सकता है। यदि राष्ट्र सम्पन्न है तो व्यक्ति पर भी इसका सुप्रभाव पड़ेगा। हममें यदि यह भावना दृढ़ मूल हो जाय तो असन्तोष बहुत मात्रा में कम हो जाय।

### इतिवृत्तात्मक शिक्षा

हमारी शिक्षा का तीसरा दोष यह है कि आध्यात्मिक और आत्म सम्मान सम्बन्धी मूल्यों की अपेक्षा आर्थिक मूल्यों को अधिक महत्व देना सिखाया है। न हमको आत्म सम्मान का मूल्य सिखाया जाता है और न देश की विकास-योजनाओं से आत्म विस्तार के सुख का अनुभव करना सिखाया गया है। हमको वह सौन्दर्य बोध भी नहीं कराया जाता जिसके द्वारा हम देश के नव निर्मित विशाल भवनों की विशालता और उनके निर्माण सौष्ठव का आस्वादन कर सके। हमारी शिक्षा इतिवृत्तात्मक अधिक है।

### सामान्य ज्ञान का अभाव

हमारी शिक्षा की चौथी कमी यह है कि देश की वस्तुओं और निर्माण योजनाओं तथा उनके परिणामों की जानकारी हमको कम करायी जाती है। सामान्य ज्ञान का एक प्रश्न-पत्र इण्टर तक रहता है किन्तु हमारे विद्यार्थियों का सामान्य ज्ञान शोचनीय अवस्था से आगे नहीं बढ़ता। यदि देश की बढ़ती हुई उन्नति का विद्यार्थियों को वास्तविक ज्ञान होता रहे तो इतना असन्तोष न बढ़े।

### स्वदेशी भावना की कमी

हमारी शिक्षा की पांचवी कमी यह है कि हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व को विकास नहीं दिया जाता है। राष्ट्रीय व्यक्तित्व के लिए जो सांस्कृतिक जीवन चाहिए उसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है। इसके लिए इतिहास और संस्कृति का ज्ञान पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है। यदि हममें स्वदेशी भावना जागृत की जाय (हिन्दी को उचित मान न मिलने और दैनिक व्यवहार में उसके अनुसार प्रचार के न बढ़ने का एक मात्र कारण है स्वदेशी भावना का अभाव) यदि हमको अपनी संस्थाओं और वस्तुओं पर गर्व करना सिखाया जाय तो राष्ट्रीयता की भावना बढ़ेगी और उसी के साथ असन्तोष क भावना घटेगी।

### नाजुक मिजाजी

हमारी शिक्षा की छठी कमी यह है कि वह हमको अधिक सुकुमारता की ओर लिए जा रही है। हममें शारीक श्रम का आदर कम होता जाता है और कष्ट सहिष्णुता भी घटती जाती है। कष्ट सहिष्णुता की कमी के कारण ही हम थोड़े से अभावों से घबड़ा जाते हैं ? इसका यह अर्थ नहीं कि हम सन्तोषी बनकर गरीब बने रहें। हम उद्योग शील बनें; किन्तु उद्योगशील बनने के लिए जो कष्ट सहिष्णुता चाहिए वह हममें भरपूर मात्रा में आनी चाहिए।

### लकीर के फकीर

शिक्षा सम्बन्धी दोषों में कुछ के लिए तो जो शिक्षा संस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं सरकार उत्तरदायी है और कुछ जनता की रुचि और लकीर की फकीर वृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अधिकांश लोग पीटी हुई लकीर से हट कर चलने का साहस नहीं करते हैं। हम अपने पाठ्य विषयों के चुनाव में गलती करते हैं, असफल रहने पर सरकार या भाग्य को दोष देते हैं।

### सरकारी दायित्व

शिक्षा के दोष दूर हो जाने पर भी कुछ दोष ऐसे रह जाते हैं जिनके लिए सरकार उत्तरदायी ठहराई जा सकती है। सबसे पहला दोष यह है कि विषमताएँ प्रायः जैसी की तैसी बनी हुई हैं। सामाजिक विषमतायें अवश्य कम हुई हैं। अफसर-मातहत में इतना आतंक का सम्बन्ध नहीं जितना पहले था। अधिकारी वर्ग और जनता के बीच की खाई बहुत पट गई है। राजनीतिक विषमताएँ भी बहुत अंश में कम हो गई हैं। पार्टी के बल पर एक अयोग्य आदमी चाहे ऊंचा उठ जाय किन्तु पार्टी के भेद के कारण योग्य आदमी पद से च्युत तो किया ही नहीं जाता है, वह

प्रायः वंचित भी नहीं रहता। हां! आर्थिक विषमताएं अवश्य हैं। समान रूप से पढ़ाई में परिश्रम करने वालों के वेतनों में जब आकाश पाताल का अंतर होता है तब असन्तोष होता ही है। इस असन्तोष में स्वाभाविक ईर्ष्या तो काम करती ही है और यह भी खयाल होता है कि यह बढ़ी हुई आमदनी जनोपकारी कार्यों में अथवा समान वितरण के आदर्श की पूर्ति में लगायी जा सकती थी।

विषमनाएँ तो रूस जैसे समाजवादी देश में भी हैं। किन्तु उनके अनुपात के औचित्य का प्रश्न रह जाता है। इन सबके लिए नैतिक उत्तरदायित्व का अनुभव करना आवश्यक है।

आयोजनाओं के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ आलोचनायें होती हैं। यद्यपि यह तो ध्रुव सत्य है कि आयोजनाओं के निर्माता दिव्य दृष्टि से समन्वित नहीं होते और वे गलती कर सकते हैं, तथापि आयोजनाओं के कार्यान्वित करने में विशेष सावधानी से काम लेना चाहिए।

सरकार कुछ ऐसी भी आयोजनाओं का सूत्रपात कर देती है, जिनकी बौद्धिकता साधारण जनता की समझ में नहीं आती और न उनकी तात्कालिक आवश्यकता होती है। नई हिन्दी लिपि को भी विद्यार्थियों पर कुछ अधिक आतुरता से लादा जात रहा है।

खेद की बात यह है कि हमारी शिक्षा की कमी के कारण जनता में यह यह भावना नहीं आई है कि सरकार चाहे जिस पार्टी की हो देश हमारा है, हम कोई काम ऐसा न करें जिससे देश की हानि या बदनामी हो। जनता सरकार की विफलताओं पर प्रसन्न होती है क्योंकि वे अपने को सरकार से बाहर की समझती हैं। सरकार को भी यह चाहिए कि लोगों के साथ ऐसा व्यवहार करे कि वे अपने को सरकार का अंग समझें। उनकी सलाह और उनके मत की उपेक्षा न की जाये।

जनता को विशेषकर विद्यार्थियों को यह चाहिए कि वे अनुशासन में रहकर शांति भंग होने के अवसर न दें। शांति-भंग हो जाने पर सरकारी अधिकारियों को चाहिये कि वे धैर्य से काम लें। वे भी समझें जनता अपनी है। जहां हम विदेश में अहिंसा का प्रचार करते हैं वहां हम अपने घरेलू मामलों में भी अहिंसात्मक साधनों से काम लें जिससे किसी को यह कहने की गुंजाइश न मिले 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'।

---

## स्वतंत्रता के बाद

भारत के सत्य और अहिंसा के अमोघ अस्त्र के सम्मुख ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति को झुकना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध ने ब्रिटिश शक्ति को अस्तव्यस्त कर दिया था। फिर, यह भी असम्भव प्रतीत होने लगा कि कोई देश दूसरे देश का दास बना रहे। इस प्रकार देश की सत्य और त्याग पर आधारित तपस्या और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से उत्पन्न विवशता ने “भातर छोड़ो” आन्दोलन की सफलता को सम्भव बनाया। स्वतंत्रता के आगमन के साथ देश का क्षितिज आशा से रंजित होकर विस्तृत हुआ। एक ओर देश का सोचा हुआ आत्म-सम्मान जग गया और दूसरी ओर वर्जित क्षेत्रों के द्वार उन्मुक्त हुए। जन-जन को स्वतन्त्र प्रगति के अधिकार के सात्विक गर्व का अनुभव होने लगा। उन्मुक्त जन-जीवन प्रगति के चौराहे पर खड़ा होकर सर्वतोमुखी विकास की योजना में लगने का अवसर पा सका।

### नवीन युग का सूत्रपात

स्वतन्त्रता का आवेश देश के जीवन में एक नवीन ज्योति, नवीन स्फूर्ति तथा उत्साह भर देता है। यहाँ इतिहास के एक कलुषित अध्याय की समाप्ति होती है और नवीन अध्याय की स्वर्णिम रूप-रेखा खड़ी होने लगती है। अनेक पुराने प्रश्न स्वतः हल हो जाते हैं और नवीन प्रश्न प्रस्तुत होते हैं। इन प्रश्नों में हमारे नवीन कर्तव्यों और अधिकारों की माँग निहित दिखाई देने लगती है। पुराने संघर्ष की दिशा बदलती है। संघर्ष का लक्ष्य नवीन भविष्य-निर्माण हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति हमारे इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात करती है।

### स्वतन्त्रता के पश्चात् नवीन समस्याएँ

ब्रिटिश सत्ता के हट जाने के पश्चात् कुछ प्रश्न स्वतः उत्पन्न हो गए थे। हमें एक अत्यन्त अशक्त शासन-पद्धति उत्तराधिकार में मिली, जिसमें तत्काल परिवर्तन की आवश्यकता थी। द्वितीय महायुद्ध ने देश की अर्थ-व्यवस्था को जर्जर बना दिया था। फलतः महँगाई के दानव का सामना करना पड़ा। कुछ समस्याएँ देश के विभाजन से उत्पन्न हुईं। देश को विस्थापितों के पुनर्वास और जीवन-निर्वाह की जटिल समस्या का सामना करना पड़ा। यह एकऐसी समस्या थी, जो बड़े से बड़े देश को विचलित कर सकती थी। इसका हल भी तत्काल खोजना था। विभाजन का प्रभाव देश की खाद्य समस्या पर भी पड़ा। अधिक अन्नोत्पादक क्षेत्र भारत से पृथक हो गए। विस्थापितों की इतनी बड़ी संख्या का देश में आगमन तथा अन्न-क्षेत्रों का

पृथक् हो जाना देश की खाद्य समस्या को देश के जीवन-मरण की समस्या बना देने के लिए पर्यप्त थे। देशी रियासतों का प्रश्न भी कम टेढ़ा नहीं था। ब्रिटिश शासन की समाप्ति पर रियासतें अपने को स्वतन्त्र मान बैठी थी। यह देश की राष्ट्रीय एकता को खंड-खंड करने की भूमिका थी। राष्ट्र के संगठन में ये एक बड़ी बाधा उपस्थित कर रही थी। सम्प्रदायवाद की विषबेलि देश को आच्छादित कर लेना चाहती थी और उसके कटु फलों का पूर्वास्वाद भी मिल चुका था। बेकारी की समस्या देश की युवक शक्ति को ग्रस्त कर लेने के लिए सुरसा की भांति मुंह बाए बैठी थी। इस प्रकार स्वतन्त्रता के साथ अनेक जटिल समस्याएँ देश के सम्मुख उपस्थित हो गईं।

### समस्याओं के हल का यत्न

शासन-सम्बन्धी समस्या को नवीन शासन-विधान के द्वारा हल किया जा सकता था। पुराना रूढ़ तथा अप्रगतिशील शासन-विधान देश की नवोदित प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं हो सकता था। देश के लिए धर्म-निरपेक्ष अर्थात् सम्प्रदाय-भावना से मुक्त, स्वतंत्रता तथा समानता पर आधारित और देश को पूर्ण स्वामित्व देने वाला विधान आवश्यक था वह मिला। देश की आर्थिक व्यवस्था को समर्थ बनाने का यत्न प्रारम्भ हुआ। मुद्रा-स्फीति के प्रश्न को हल करने का यत्न किया गया। अनेक दिशाओं में उत्पादन की भी कुछ वृद्धि हुई। विस्थापितों की समस्या को काफी सफलता के साथ शासन ने सुलझाने का यत्न किया। उनको घर भी देने का यत्न किया गया और रोजी भी मिली। देश ने भी शासन के साथ भरसक सहयोग दिया। लगभग प्रत्येक समृद्ध नगर में विस्थापितों की सहायता के लिए संस्थाएँ बनीं। आज हम कह सकते हैं कि वह समस्या पूर्णतः नहीं तो अधिकांश में तो हल हो चुकी है।

स्व० बल्लभ भाई पटेल के प्रयत्नों और विलयन नीति के परिणामस्वरूप देश की लगभग ५०० छोटी-बड़ी रियासतों का भारतीय संघ में विलय हो सका। सम्प्रदायवाद के विष को समाप्त करने के लिए कुछ कठोरता से भी काम लिया गया। पर ऐक्य एवं साम्यास्थिति को बनाए रखने की दृष्टि से यह कठोरता भी क्षम्य कही जा सकती है। इस प्रकार शासन-संबंधी अनेक समस्याओं का हल खोजने का यत्न किया गया और उसमें काफी सफलता भी मिली। इस सफलता में जनता का भी हाथ रहा।

कुछ समस्याएँ, जैसे अन्न-वस्त्र की, उत्पादन-संबंधी योजनाओं के द्वारा ही हल हो सकती थी यद्यपि इन योजनाओं का फल दूरस्थ था, क्योंकि, जैसी कहावत है, हथेली पर सरसों नहीं जम सकती, तथापि उनका फल मिलने की संभावना थी। योजना के द्वारा प्रगति और विकास का मार्ग जनतंत्रीय दर्शन के भी अधिक अनुकूल

पड़ता है। क्रांति-पथ यहाँ अपेक्षाकृत उपयोगी नहीं हो सकता था। पंचवर्षीय योजना के द्वारा कृषि की उन्नति करके अन्न-समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया। कृषि-प्रधान देश की अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार कृषि-उत्पादन होता है। साथ ही देश की शक्ति उसकी औद्योगिक प्रगति पर निर्भर रहती है। इन दोनों की उन्नति ही पर देश की समृद्धि और शक्ति का भव्य भवन खड़ा हो सकता था। इनकी उन्नति में बेकारी का हल भी निहित रहता है। एक पंचवर्षीय आयोजना पूरी हो चुकी है। दूसरी आयोजना के चालू करने की तैयारी हो रही है।

कृषि के लिए सबसे अधिक आवश्यकता सिंचाई और खाद की होती है और उद्योग के लिए विद्युत-शक्ति की। पंचवर्षीय योजना में नदी-घाटी योजना को प्राथमिकता मिली, क्योंकि सिंचाई-समस्या और शक्ति-समस्या को हल करने का यह महत्वपूर्ण मार्ग था। इस योजना के अन्तर्गत भाकरानागल, दामोदर-घाटी, हीराकुंड, कोसी, चम्बल, तुंगभद्रा और रिहंद की योजनाएँ सिंचाई और विद्युत-शक्ति दोनों की दृष्टि से बनीं। इनसे लाखों एकड़ भूमि की सिंचाई और अपार शक्ति का प्राप्ति सम्भव बताई जाती है। माही, ककरापुर, गंगापुर, गोदावरी, घटप्रभा, कृष्णा, लोअर भवानी, मनीमुथर तथा मालमपुजा योजनाएँ केवल सिंचाई दृष्टि से बनी हैं। इन योजनाओं की पूर्ति होने पर देश के जीवन तथा रहन-सहन के स्तर के उन्नत होने की संभावना है।

सिंचाई के समान ही महत्वपूर्ण उत्तम खाद की समस्या भी है। खेतों को उर्बरा-शक्ति को बढ़ाने और उपज में वृद्धि करने में रसायनिक खाद का प्रयोग किया जाता है। लगभग २३ करोड़ रुपयों की लागत से हमारे देश की लोकतान्त्रिक सरकार ने, एशिया का सबसे बड़ा खाद का कारखाना सिंद्री में निर्माण किया, जिसने भारत की रासायनिक खाद की माँग को काफी मात्रा में पूर्ण कर दिया है। यद्यपि इन आयोजनाओं का फल दूरवर्ती है, तथापि इनके द्वारा ही अन्न के उत्पादन में वृद्धि का लक्ष्य सोचा गया था, उसकी पूर्ति होने लगी है। देश अन्न के क्षेत्र में स्वतः पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। भूमि-सम्बन्धी समस्याओं को राजकीय स्तर पर जमींदारी उन्मूलन के द्वारा हल करने का यत्न किया गया। भूमिहीनों को भूमि दिलाने का प्रयत्न आचार्य विनोबा भाव ने भूदान-यज्ञ के द्वारा किया। यह एक रक्हीन तथा सेवा और त्याग पर आधारित क्रांति की भूमिका थी। भूदान के दर्शन के अनुसार, स्वेच्छापूर्वक दान उपकारी तथा उपकृत दोनों को महान् बनाता है।

### वैज्ञानिक प्रगति

आज विज्ञान की प्रतियोगिता में सभीदेश आगे बढ़ने को प्रयत्नशील हैं।

विज्ञान की शक्ति ने संसार को आश्चर्यचकित कर दिया है। युद्ध तथा शांति दोनों ही की उपलब्धियाँ वैज्ञानिक आविष्कारों के सहारे खड़ी हैं। दासता ने जहां अन्य प्रगतियों पर रोक लगा रखी थी, वहां विज्ञान का क्षेत्र भी वर्जित क्षेत्रों में था। आज के उन्मुक्त वातावरण में अनेक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ खुलें यह स्वाभाविक ही है। भारत की वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास की दृष्टि से तेरह प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई है ! वे ये हैं :--

राष्ट्रीय भौतिकविज्ञान-शाला, नई दिल्ली।

राष्ट्रीय रसायन-शाला, पूना।

राष्ट्रीय धातुशोधनशाला, जमेशदपुर।

केन्द्रीय ईंधन गवेषणशाला, धनवाद।

केन्द्रीय शीशा और मिट्टी गवेषणशाला, जादवपुर।

केन्द्रीय औषधि अवेषणशाला, लखनऊ।

केन्द्रीय खाद्य-गवेषणशाला, मैसूर।

केन्द्रीय सड़क गवेषणशाला, नई दिल्ली।

केन्द्रीय विद्युत-रसायन-गवेषणशाला, कराइकुडी।

केन्द्रीय चमड़ा गवेषणशाला, मद्रास।

केन्द्रीय भवन निर्माण-गवेषणशाला, रुड़की।

केन्द्रीय इलैक्ट्रॉनिक इंजीनियरिंग शाला, पिलानी तथा

राष्ट्रीय वनस्पति उद्यानशाला, लखनऊ।

भारत के चित्तरंजन कारखाने में रेल के इंजन भी बनने लगे हैं। मोटर और साइकिलों को निर्माण देशी उद्योग और विदेशी कारखानों के सहयोग से आरम्भ हो गया है। इस्पात के उत्पादन के लिए तीन कारखाने बनाने का सूत्रपात हो चुका है। परंवर में रेल के डिब्बे भी बनने लगे हैं। प्रतवर्ष नए औद्योगिक मेले और प्रदर्शनियाँ हो रही हैं। कपड़े के निर्यात में भारत क्रमशः अग्रसर हो रहा है। दिल्ली औद्योगिक प्रदर्शनी में प्रायः सभी प्रमुख देशों ने भाग लिया और उसके द्वारा हमारे उद्योगपतियों को उत्पादन के नए-नए साधनों का ज्ञान हुआ।

स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी आयोजनाओं में भी भारत उन्नति कर रहा है। पेन्सलीन आदि मुख्य औषधियों के कारखाने बनते जा रहे हैं। मलेरिया, टी० बी० आदि पर विजय पाने के उद्योग चल रहे हैं। चारों ओर अस्पतालों और स्कूल कॉलेजों के तारतम्य फैलाने का यत्न किया जा रहा है। दूसरे देशों से विद्यार्थियों का आदान-प्रदान हो रहा है।

आज का युग अणु-युग है। प्रत्येक प्रगतिशील देश अणुशक्ति के उत्तरोत्तर विकास में अपनी शक्ति के चरम विकास का रूप देख रहा है। अणु-सामग्री हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। भारतीय शासन ने “एटैमिक इनर्जी कमीशन” की नियुक्ति की है। इसका कार्य अणु-सम्बन्धी अनुसंधान करना है। हमारे अणु-संबंधी अनुसंधान का लक्ष्य विनाश नहीं, सर्जन है। अणु-शक्ति का प्रयोग सर्जनात्मक कार्यों में जिस दिन होने लगेगा, उस दिन संसार बहुत आगे बढ़ जायगा। दुर्भाग्यवश अभी उसका प्रयोग विनाशार्थ ही हुआ है, हमारी आशा है भारत इसके शांतिपूर्ण अपयोग का मार्ग प्रशस्त करेगा। अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-आयोग के सभापतित्व के कार्य का गुरुभार देश के प्रसिद्ध वैज्ञानिक होमी भाभा पर रखा जाना देश के लिए गौरव की बात है। उन्होंने अपने अभिभाषण में अणुशक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग पर जोर दिया।

शासन वैज्ञानिक उन्नति की अन्य योजनाओं पर भी विचार कर रहा है। हिमालय पर एक गवेषण-केन्द्र की स्थापना की बात सोची जा रही है। यहाँ नक्षत्र-विज्ञान संबंधी, कास्मिक किरणों और ग्लेशियर विज्ञान संबंधी, ऋतु विज्ञान तथा हिमालय की वनस्पतियों संबंधी अनुसंधान किए जायेंगे। साथ ही भारत में रेडियो और रेडार उपकरणों का निर्माण करने के लिए “रेडियो एन्ड इलेक्ट्रिक रिसर्च स्टेशन” की स्थापना की योजना भी है। इतने थोड़े समय में इतनी वैज्ञानिक प्रगति उल्लेखनीय है। यदि सभी वैज्ञानिक योजनाएँ कार्यान्वित हो जायँ, तो निश्चय ही भारत विज्ञान के क्षेत्र में एक प्रमुख और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा। भारत वैज्ञानिक खोज में तो अपना सहयोग देने का भरसक प्रयत्न कर रहा है किन्तु वह वैज्ञानिक आविष्कारों के नैतिक पक्ष पर अधिक बल दे रहा है।

### अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भीषण युद्ध-विभीषिका से संसार दहल उठा था। त्राहि-त्राहि करती हुई जतना की शान्ति की मूक पुकार दिगंत में गूंजे उठी। साथ ही विश्व की दलित मानवता अपने उद्धार के लिए भी कटिबद्ध हुई। अनेक देश स्वतंत्र हुए। निरीह जनता की शान्ति की पुकार नक्कारखाने में तूती की आवाज के समान विलीन हो गई। युद्ध-लोलुप शक्तिमन्त देश अपना आधिपत्य जमाने के लिए आपादमस्तक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होने का उपक्रम बाँधने लगे। व्यापक शास्त्रीकरण की प्रतियोगिता आज भी चल रही है। अतः युद्ध का आतंक आज भी जन-मन में गरज रहा है। जनवादी और पूंजीवादी शक्तियों में संघर्ष है। इस संघर्ष के तनाव को ढीला करने के प्रयत्न भी असफल ही रहे। कोरिया का संघर्ष हुआ : इंडोनेशिया पर भी युद्ध के बादल छाए। इस असफता का कारण शक्तिशाली राष्ट्रों में सहिष्णुता और समझौते की कमी है। पारस्परिक रक्षा-संधियाँ भी हुई, पर, सामूहिक



( ७४ )

सुरक्षा-योजना भी सफल नहीं हो सकी; क्योंकि उनका उद्देश्य शक्तिशाली देशों का अपने पक्ष में मत-निर्माण करना तथा विपक्ष को आतंकित करना था।

इस नृशंस और युद्ध-जर्जर वातावरण में भी हमारे देश ने शान्ति पर अटल विश्वास जमाए रखा है। हमारे देश के साँस्कृतिक और समन्वयात्मक संदेश के एक प्रमुख वाहक श्री नेहरूजी इस विचार के प्रचारक हैं कि विश्व-राजनीति के जटिल से जटिल प्रश्न शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाए जा सकते हैं। इसी सिद्धान्त पर कोरिया तथा इंडोनेशिया में युद्ध-विराम संभव हो सका। शांतिपूर्ण उपायों का प्रयोग आरम्भ हुआ। इस सब शांति-योजना में एक सिद्धांत कार्य कर रहा है। सामूहिक सुरक्षा, सामूहिक शक्ति से नहीं, सामूहिक शान्ति ही से संभव है। भारत की विदेश-नीति का यह दृढ़ आधार है।

### पंचशील

संसार के सम्मुख एक बड़ा प्रश्न यह है : क्या विरोधी सिद्धांतों वाले सभी देशों का शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व संभव नहीं है ? भारत की इस सम्बन्ध में आशावादी नीति है। उसे इस शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की पूर्ण आशा ही नहीं, उस पर पूर्ण विश्वास भी है। अन्य देश भी इससे सहमत हैं। प्रसिद्ध चाऊएनलाई-नेहरू व्यक्तव्य इसका प्रमाण है। इसकी सम्भावना को दृढ़ करने के लिए “पंचशील” की सद्भावना हुई है। ये पाँच सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

- (१) एक-दूसरे की राष्ट्रीय एकता और सत्ता के प्रति आदर की भावना।
- (२) अनाक्रमण-नीति।
- (३) एक-दूसरे के आन्तरिक प्रश्नों में हस्तक्षेप न करने की नीति।
- (४) समानता का भाव तथा पारस्परिक लाभ।
- (५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

इन सिद्धान्तों पर सामूहिक शान्ति और सुरक्षा का भवन खड़ा हो सकता है। भारत की इस नीति के प्रति सहानुभूति भी जगी है और आलोचना भी हुई है। किन्तु, समस्त एशिया तथा पाश्चात्य जगत भारत के पक्ष की निष्पक्षता और यथार्थता का धीरे-धीरे अनुभव कर रहा है। हिन्द चीन का युद्ध-विराम, आंग्ल-मिश्र, स्वेज-समझौता, तथा आंग्ल-ईरान तैल-समझौता इस नवीन जाग्रति के प्रतीक हैं। यदि सहअस्तित्व का सिद्धान्त मान्य नहीं होता, तो सहविनाश ही समझिए।

### उपसंहार

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी गौरव और प्रतिष्ठा मिली है। डॉ० सर एस.

( ७५ )

राधाकृष्णन् संयुक्त-राष्ट्र संघ के शिक्षा विज्ञान-संस्कृतिसंघ (U. N. E. S. CO.) के सभापति-पद पर आसीन हुए, यह भारत के लिए गर्व की वस्तु थी। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सभापतत्व का सम्मान प्राप्त हुआ, यह भारत ही के लिए नहीं, विश्व कीनारी जाति के लिए गौरव की बात है। श्री कृष्णामेन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण स्थिति बनी। शांति के एक प्रमुख दूत के रूप में श्री जवाहरलाल नेहरू के प्रति संसार के अनेक भागों में जो श्रद्धा और प्रतिष्ठा प्रदर्शित की गई, वह देश के शांति-सन्देश का अवश्वव्यापी मूल्यांकन ही था। अनेक देशों से महत्वपूर्ण, राजनीतिक मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होना देश के राजनीतिक क्षितिज के विस्तार का द्योतक है। आशा है, भारत इस प्रगति की दिशा में उत्तरोत्तर उन्नति करता जायगा, विश्व की राजनीति को शांति और समन्वय की ओर ले जाने में सफल हो सकेगा और कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की ये पंक्तियां चारितार्थ हो उठेंगी :

“उठे जूझने विश्व-समर में दुर्धर,  
लोक-चेतना के युग-शिखर भयंकर,

विश्व-सभ्यता रुग्ण हृदय में व्याप्त हलाहल भीषण।  
अमृतमेघ भारत, क्या छिड़केगा न प्राण संजीवन।”

---

## जीवन और दर्शन

बद अच्छा बदनाम बुरा, अव्यावहारिकता का उदाहरण देने के लिए बेचारे दर्शनिक ही बलि के बकरे बनाये जाते हैं-- 'अजापुत्रं बलिं दद्यात् दैवो दुर्बलघातकः'। 'प्रदीपः सर्वं विद्यानाम्', आन्वीक्षिकी विद्या के उपासक नैयायिकों का 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्,' का उदाहरण देकर मजाक उड़ाया जाता है। दर्शनिकों की विस्मरणशीलता को प्रमाणित करने के लिए कल्पनाप्रसूत बड़े मनोरंजक किस्से भी चलन में आ गये हैं। कहा जाता है कि एक बार न्याय शास्त्र के कर्ता महर्षि गौतम, (शयद उनके सीधेपन के ही कारण उनका नाम गौतम अर्थात् अत्यन्त गौ पड़ा) विचार करते हुए जा रहे थे। विचारमग्न वे पास के अन्धकूप को न देख सके और उसमें गिर पड़े। तब भगवान् ने दया करके उनके पैरों में भी आँखें दे दीं जिससे कि पैर अपने आप संभल जाया करें। तभी से उनका नाम अक्षापाद पड़ा। न्यूटन को यह भी याद नहीं रहता था कि उसने खाना खा लिया या नहीं? एक बार जब वह अपने कार्य में संलग्न था उसके एक मित्र ने उसकी मेज पर रखे हुए खाने को खा लिया। न्यूटन जब कार्य से छुट्टी पाकर मेज पर पहुँचा तो तश्तरी में जूठन-जाठन देखकर कहने लगा मैं बड़ा बेवकूफ हूँ मुझे यह भी याद न रहा कि मैंने भोजन कर लिया। वास्तव में भोजन किसी दूसरे ही ने किया था। एक दर्शनिक महोदय ट्रेन के टिकट खो जाने पर इस कारण व्यग्र न थे कि उनसे दुबारा किराया माँगा जायगा वरन् इसलिए कि टिकट के बिना उनको यह किस प्रकार मालूम हो कि वे कहाँ जा रहे हैं। एक दूसरे दर्शनिक महाशय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि एक बार उनको स्टेशन जाते हुए भ्रम हो गया कि वे अपनी घड़ी नहीं लाये हैं और घर लौटकर घड़ी लाने के लिए बड़ी व्यग्रता के साथ वे जेब से घड़ी निकाल कर देखने लगे कि इतना समय है या नहीं कि घर से घड़ी ले आवें, 'बगल में लड़का शहर में ढिंढोरा'। एक और दर्शनिक सज्जन टहल कर लौटने पर चारपाई पर अपनी छड़ी को सुला देते हैं और स्वयं कोने में जाकर छड़ी के स्थान में रात भर खड़े रहते हैं।

अनन्तता के पुजारी दार्शनिक से सम्बन्धित ऐसे किस्से भी अनन्त हैं किन्तु प्रश्न यह है कि क्या दार्शनिक ऐसे उपयोगशून्य व्यक्ति होते हैं जिनका जीवन में कोई स्थान नहीं। क्या हमारे जीवन की गति-विधि में दर्शन का कोई हाथ नहीं? अफलातून ने राजा के लिए दार्शनिक होना आवश्यक कहा है किन्तु दुर्भाग्य से वह भी दार्शनिक था। उसकी गवाही चोर के साथी गठकतरे की बात नहीं तो अपने मुँह मियाँ मिट्टू की बात तो अवश्य ह कही जायगी।

यद्यपि कुछ भारतीय दर्शनों ने शब्द प्रमाण को माना है तथापि आजकल के युग में तर्क और अनुमान प्रमाण की महत्ता है। आइए उसी के आधार पर जीवन में दर्शन की उपयोगिता पर विचार करें।

दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। संसार का कोई ऐसा विषय नहीं जो दर्शन शास्त्र से उपकृत न हुआ हो। सभी-विज्ञानों के अन्तिम तथ्य दर्शन शास्त्र के विवेच्य विषय होते हैं। विज्ञान की आधारशिलाओं का विन्यास दर्शन शास्त्र द्वारा ही होता है। दर्शनशास्त्र के आत्मीय सहकारी तर्कशास्त्र के (विशेषकार आगमनात्मक तर्क जिसको अंग्रेजी में Inductive Logic कहते हैं) ज्ञान बिना वैज्ञानिक अन्वेषक भी अपने परीक्षणों में सफल नहीं होता। जहाँ-जहाँ विवेचना और ज्ञान का क्षेत्र है वहाँ-वहाँ दर्शन का अधिकार है 'जहाँ-जहाँ पातशाही तहाँ दावा शिवराज को', दर्शन शास्त्र स्वयं अपने को भी शासित करता है। दर्शन शास्त्र की उपयोगिता पर विचार करना भी दर्शन शास्त्र का ही विषय है।

दर्शन शास्त्र वैज्ञानिक का ही पथप्रर्शन नहीं करता है वरन् मनुष्य में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को भी उत्पन्न करता है। वैज्ञानिक केवल वही नहीं है जो प्रयोगशाला में बैठकर प्रयोग नलिकाओं में रासायनिक पदार्थों का उलट फेर करता रहता हो वरन् समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, गणितशास्त्र सभी में वैज्ञानिक पद्धति से काम लिया जाता है। दैनिक जीवन में भी हम वैज्ञानिक पद्धति की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। जीवन में न्यायपरायण और संतुलित मन का वही मनुष्य कहा जा सकता है जो तर्क से काम लेता है और पक्ष और विपक्ष के दोनों ही पल्लों को बराबर महत्त्व देता है। वैज्ञानिक को अपने पक्ष की पुष्टि के उदाहरणों का जितना ध्यान रखना पड़ता है उससे अधिक वह विपरीत उदाहरणों को महत्त्व देता है। एक भी विपरीत उदाहरण के उपस्थित हो जाने पर जब तक वह उसकी व्याख्या न कर ले वैज्ञानिक को चैन नहीं पड़ता। कभी-कभी तो व्याख्या न होने पर उसको अपनी प्रिय से प्रिय विचारधारा की गति को मोड़ देना पड़ता है।

हमारे कितने अन्धविश्वास विपरीत उदाहरणों की उपेक्षा पर निर्भर रहते हैं। यूनान में एक देवता के मन्दिर में उन लोगों के चित्र टंगे हुए थे जो उस देवता की मन्त मानने के कारण जहाज में डूबने से बच गये थे। एक मनुष्य ने वहाँ के पुजारी से प्रश्न किया कि क्या तुम्हारे पास उन लोगों के भी चित्र हैं जो मन्त्रते मानने पर भी डूब गये।

परीक्षण बुद्धि प्रत्येक विचारशील मनुष्य का एक आवश्यक गुण है। तुलसीदास जी ने भी कम से कम बहराइच की जात (यात्रा) करने वालों के संबंध में इस परीक्षण बुद्धि से काम लिया है, 'आँख लही कब आँधरे जग बहराइच जाय?' इस

परीक्षण बुद्धि का हमको प्रत्येक कार्य में उपयोग करना चाहिए। यद्यपि हमको यह मानना पड़ेगा कि सब जगह परीक्षण बुद्धि से काम लेने का अवसर नहीं होता और यदि हम तात्कालिक निर्णय न करें तो दीर्घसूत्रता के दोष के शिकार बन जावें किन्तु जिन बातों में जल्दी नहीं है और वे हमारे नित्य व्यवहार की वस्तुएँ हैं उनमें परीक्षण बुद्धि से काम न लेना अकर्मण्यता है। वैज्ञानिक परीक्षक किसी प्रयोग की सफलता मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। जब तक वह कार्य कारण सम्बन्ध की स्थापना न कर ले वह अपने प्रयोग को पूर्ण नहीं कर लेता। बहुत से अन्धविश्वास तो केवल नामों के सहारे चलते हैं आंखों के रोहूओं के लिए रोहू मछली के दाँत गले में बाँध दिए जाते हैं। जो चीज न खिलाई जाय न लगाई जाय उसका रोग के शमन से क्या सम्बन्ध? मोतीझले में अनविधे मोती खिलाना कुछ सार्थकता रखता है क्योंकि वह खाने की चीज है और उसमें कैलशियम भी होता है। परीक्षक बुद्धि में हमको केवल यही नहीं देखना पड़ता है कि अमुक प्रयोग से हमको सफलता हुई या नहीं वरन् यह भी कि उसकी सफलता में अन्य कोई सहायक कारण तो नहीं है और विफलता में कोई बाधक कारण तो नहीं उपस्थित हो गया है।

उपमानों पर भी हमको सहज में न दौड़ जाना चाहिए। यदि कोई कहे कि जब जहाज डूबता हो तब हमको जहाज के कप्तान की ही बात माननी पड़ती है। उस समय जहाज के बैठने वालों का मत नहीं लिया जाता है। इसलिए प्रजा-तन्त्र राज्य नहीं चल सकता है। या तो राजतन्त्र ही चल सकता है या तानाशाही एकाधिपत्य। डूबते हुए जहाज और राज्यशासन की समानता नहीं हो सकती। उस समय विवेचन का समय नहीं होता है और न सबको नौ-सञ्चालन की वैज्ञानिक जानकारी होती है। राज शासन में व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य राजनीति का ज्ञान रखते हैं और उनका राज्य के साथ सम्बन्ध यात्रियों और जहाज के सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। जाति-पाँति को जन्मजात मानने वाले कहा करते हैं पढ़े-लिखे शूद्र से अनपढ़ ब्राह्मण श्रेष्ठ है क्योंकि गधी की अपेक्ष ठल्ल गाय आदरणीय है। यह युक्ति हिन्दुओं पर ही प्रभाव डाल सकती है। उनके संस्कार ऐसे बने हुए हैं कि इस युक्ति में भी एक प्रकार का जातिवाद छिपा हुआ है। जातिवाद के सहारे ही जातिवाद का पोषण तर्कशास्त्र सम्मत नहीं का जा सकता।

दार्शनिक किसी प्रयोग की विफलता से विचलित नहीं होता। वह बिना विफलता के कारणों की पूरी खोज किए अपना निर्णय नहीं देता। वह बिना पूरी छान-बीन किये अपने मत के अनुकूल निष्कर्षों पर दौड़ नहीं जाता। वह धी और संतुलित मन का होता है। न तो वह अपने लिए किसी वाद विशेष का भूत खड़ा कर लेता है और न वह उद्धत और प्रमत्त की भाँति दूसरे वादों का तिरस्कार करता है।

वह विचार स्वातंत्र्य का पुजारी होता है। उसके लिए सब वादों में तथ्य रहता है। जैन दर्शन ने तो सप्तभंगी न्याय का प्रचार कर बहुत कुछ मतभेद का शमन कर दिया है। दृष्टिकोण भेद से वहाँ बात जो एक सत्य मानता है दूसरा असत्य मान सकता है। हमको उससे लड़ने की आवश्यकता नहीं वरन् उसके दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है।

दर्शन हमको आत्मौपम्य दृष्टि देता है जिसके कारण हम दूसरे के सुख-दुख और सुभीते गैर-सुभीतों को उसकी स्थिति में अपने को रखकर अपने सुख-दुख के रूप में देखते हैं। इस आत्मौपम्य दृष्टि के अभाव के कारण ही दुनिया में इतना संघर्ष कहल-कलुष और मार-काट है। हम अपने दोषों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और दूसरों के दोषों को अणुवीक्षण यंत्र से बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं। साम्प्रदायिक झगड़ों के मूल में भी इसी आत्मौपम्य दृष्टि का अभाव है। हम अपने दोषों को न स्वीकार के सारे दोषों का भार दूसरों पर रखने को तैयार हो जाते हैं। हम अपने को तथा अपने लोगों को दूध का धोया समझते हैं और दूसरे को पाप-पंक में आपादमस्तक निमग्न देखते हैं। दूसरों को दोषी बनाने में हमारा कितना हाथ है ? इसको हम कभी अपने से नहीं पूछते। समत्वबुद्धि जितनी निजी सम्बन्धों में आवश्यक है उतनी ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में। दूसरे देशों के सम्बन्ध में हम अपने-पराये की बुद्धि से ऊपर नहीं उठ सके हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धांत यदि व्यवहार में आ जाय तो इस संसार को स्वर्ग बनने में देर न लगेगी।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धांत को व्यवहार में लाने से पूर्व हमको वह दृष्टि उत्पन्न करनी पड़ेगी। किन्तु वह बिना दार्शनिक अध्ययन और मनन के नहीं प्राप्त हो सकती है। एकात्मवाद की उर्वरा भूमि पर ही परोपकार और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की भावना पनप सकती है।

हमारे दार्शनिक विचारों का हमारी सामाजिक संस्थाओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए हम भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब और यूरोप की विभाजित कुटुम्ब प्रथा को लेंगे। भारतवर्ष में एकात्मवाद के प्राधान्य के कारण सम्मिलित परिवार को महत्व मिला है। यूरोप में अनेकवाद के और व्यक्तिवाद के प्राधान्य के कारण विभाजित कुटुम्ब का अधिक प्रचलन रहा है। पाश्चात्य प्रभाव से हमारे यहां व्यक्तिवाद बढ़ता जा रहा है। तभी तलाक आदि के प्रश्नों पर विचार होने लगा है। पाश्चात्य प्रभव से आजकल धर्म में बुद्धिवाद को अधिक स्थान मिलता जा रहा है। वर्तमान युग में हमारा अधिकंश साहित्य बुद्धिवाद से प्रभावित है। यद्यपि व्यक्तिवाद और तर्कवाद पश्चातय देशों की ही देन नहीं है यद्यपि पाश्चात्य प्रभावों ने इस वादों को विशेष बल दिया है।

भारतीय जन्मान्तरवाद तथा बौद्ध और 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के आध्यात्मिक प्रभावों के कारण हमारे यहाँ अहिंसा वृत्ति का प्राधान्य रहा है। जन्मान्तरवाद से धर्म में भी प्रवृत्ति अधिक बढ़ती है। यह जीवन ही हमारी सत्ता का अन्त नहीं है। जन्मान्तरवाद को न मानने का स्वाभाविक परिणाम चार्वाक के 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' वाले सिद्धान्त का जन्म होता है (हमारे यहां के चार्वाक भी सात्विक बुद्धि के थे, उन्होंने घृतं पिबेत् ही कहा; सर्राँ पिबेत् नहीं कहा)।

जन्मान्तरवाद से ज्ञान की उद्यति के लिए भी प्रोत्साहन मिलता है। यदि शरीर के साथ हमारी सत्ता का अन्त होता है तो ज्ञानोपार्जन से क्या लाभ? जन्मान्तरवाद कम से कम यह बतलाता है कि यदि वैयक्तिक स्मृति नहीं भी रहती है तो संस्कार अवश्य बन जाते हैं। आजकल के लोग ज्ञान की धारा के सामूहिक प्रभाव में विश्वास करते हैं। मेरा ज्ञान यदि मुझको लाभदायक नहीं होता तो दूसरे को लाभदायक होगा किन्तु बहुत सा ज्ञान अप्रकाशित रह जाता है, उसके लिए जन्मान्तरवाद ही सन्तोष देता है।

दर्शन के अन्तर्गत मनोविज्ञान आता है। उसकी उपयोगिता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वीकृत है। शिक्षा-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, व्यापार, राजनीति, राज्य-शासन, दण्ड-विधान तथा दैनिक व्यवहार, सभी में मनोविज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। मनोविज्ञान के आधार पर ही बालकों का बुद्धि-परीक्षण होता है और उनकी शारीरिक आयु का न ख्याल कर उनकी बौद्धिक आयु के आधार पर उनको शिक्षा दी जाती है। शिक्षा-शास्त्री ध्वनियों के विश्लेषण, बालकों के ऐन्द्रिक और मानसिक विकास तथा सिद्धान्तों के हृदयंगम कराने में मनोविज्ञान का प्रयोग करते हैं। मनोविज्ञान की हमको क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है और शिक्षा में ताड़ना की अपेक्षा समझाने-बुझाने के महत्त्व को स्थापित करता है। असाधारण और समस्यात्मक बालकों का सुधार मनोविज्ञान के सहारे ही किया जाता है।

साहित्य-शास्त्र में काव्य के आधार-स्तम्भ, अनुभूति, कल्पना, भावना और बुद्धि मनोविज्ञान के ही विषय हैं। बिना पाठकों की मनोवृत्ति के ज्ञान के श्रय को प्रेय बनाना सहज कार्य नहीं है। साहित्य यदि जीवन की आलोचना है तो मनोविज्ञान जीवन के विश्लेषण का रसायनमन्दिर है। मनोविश्लेषण तो आजकल के उपन्यास साहित्य का प्रमुख अंग बन गया है।

मनोविश्लेषण चिकित्सा-शास्त्र का भी जीवन-प्राण है। मन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और शरीर की विकृतियाँ मन की कुण्ठाओं और ग्रन्थियों पर अवलम्बित रहती हैं। मानसिक रोगों की चिकित्सा तो बिना मनोविश्लेषण के चल

ही नहीं सकती हैं किन्तु अन्य रोगों में भी रोगी की मनोदशा क उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

व्यापार में जनता की आवश्यकताओं का अध्ययन, उत्पादन के लिए धन-संग्रह और जन-संगठन, वितरण के लिए विज्ञापन और ग्राहक पटाने की कला, वस्तुओं को आकर्षक बनाने के ढंग ये सब मनोविज्ञान के ही विषय हैं।

राजनीति और राज्य शासन में बहुत कुछ मनुष्यों के हृदय-परिवर्तन के साधनों के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। जो लोग मनोविज्ञान के अच्छे पंडित नहीं होते हैं वे प्रायः लड़ाई मोल ले लेते हैं और अपने कार्य में सफल नहीं रहते हैं। दण्ड-शास्त्र भी अपराधी के सुधार में तभी सहायक हो सकता है जब हम अभियुक्त की मनोवृत्ति को अच्छी तरह समझें। तभी हम उसके साथ सुधार करने वाली सहानुभूति से काम ले सकते हैं। वह दण्ड-शास्त्र जो केवल दण्ड और अपराधी की भौतिक सीमाओं में घेरे रखना ही जानता है अपने उद्देश्य में विफल रहता है।

दैनिक जीवन के व्यवहार में पद-पद पर मनोविज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। जो लोग अपने साथ व्यवहार करने वाले के मनोगत भावों को जानते हैं वे ही उससे कार्य साधन में सफल हो सकते हैं। भय, क्रोध, दया आदि मनोवेगों की जानकारी उसके बाह्य अभिव्यंजकों द्वारा प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को अवसरानुकूल काम करने की क्षमता मनोविज्ञान से ही आती है। अवसर की गाली भी अच्छी लगती है और बिना अवसर को प्रशंसा भी अग्राह्य होती है। खुशामद से आमद अवश्य होती है किन्तु खुशामद भी बिना मनोवृत्तियों के अध्ययन के नहीं आती है। खुशामद भी एक कला है जो मनोविज्ञान पर आश्रित है।

दर्शन की उपयोगिता तभी मालूम पड़ती है जब हम दार्शनिक दृष्टि से संसार में प्रवेश करते हैं और उससे हम नित्य के जीवन की समस्याओं को हल करते हैं। दर्शन शास्त्र हमारे दृष्टिकोण के निर्माण में सहायक होता है। हमारा आशावादी या निराशावादी होना भी हमारे दार्शनिक सिद्धान्तों पर निर्भर रहता है। आशावादी को सावन के अन्धे क भाँति सब हरा-ही-ही दिखता है और वह जीवन में उत्साह और धैर्य से काम करता है। निराशावादी में जीवन-शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसको किसी काम के करने में उत्साह नहीं रहता और वह जीवन में विफल रहता है। इसलिए हम जीवन में दर्शन शास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकते। केवल 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का हमको हमेशा ध्यान रखना चाहिए।

---



: १८ :

## हिन्दू आदर्शों के अनुसार संतुलित जीवन

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासुदःखतः ।

मुखाभ्बुजश्री रघुनन्दनस्य में सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥

-( श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड )

मानव जीवन के प्रवाह को नियंत्रित करने के लिए सत्संग आदि अनेकों साधन हैं, किन्तु उनमें दो प्रमुख हैं--धर्म और साहित्य। सत्संग की बड़ी महिमा गायी गयी है।

सठ सुधरहि सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥

किन्तु सत्संग बिना राम-कृपा के नहीं मिलता--

बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

इसलिये साधारण मानव को धर्म-ग्रन्थों और साहित्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। धर्म और साहित्य एक दूसरे के सहायक और पूरक रहते हैं। धर्म से साहित्य को प्रेरणा मिलती है और साहित्य से धर्म की व्याख्या होती है। उसमें ईश्वरीय आज्ञा की भावना रहती है। वह उपदेश प्रभुसम्मत होता है किन्तु साहित्य का उपदेश 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' स्त्री का-सा कोमल, मधुर और स्नेहपूर्ण होता है। कविवर बिहारीलाल यदि मिर्जा राजा जयशाह को रनवास से बाहर न आने के लिये डाँटते-फटकारते, उनको शास्त्र का उपदेश देकर उनसे कहते कि तुम नरक में पड़ोगे तो शायद दरबार से निकाल बाहर किये जाते, कदाचित् जहर भी दे दिया जाता; किन्तु उन्होंने अपना काम एक दोहे से बना लिया--

नाहि परागु नाहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल ।

अली कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाल ॥

धर्म और साहित्य दोनों ही समाज को संगठित रखने में सहायक होते हैं। धर्म भी 'धृ' धातु से बना है जो धारण करने के अर्थ में आता है। साहित्य में भी हित की प्रधानता है और हित का अर्थ है 'जो बनाता है।' इसलिये हमारे यहाँ धर्म और साहित्य में विशेष अन्तर भी नहीं रह जाता है। रामायण हमारे लिये पूजा की पुस्तक होने के साथ-साथ हमारे साहित्य की उज्ज्वलतम अनुपम विभूति भी है। धर्म और साहित्य दोनों की ही सार्थकता मानव-जीवन के सुधार और नियंत्रण में है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-भक्ति को नीतिसमन्वित रूप ही स्वीकार किया है।

प्रीति रामसों, नीति पथ चलिय राग रिस जीति ।

तुलसी संतन के मते, इहै भगति की रीति ॥

( ८३ )

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।  
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पर॥

साहित्य के महाकाव्यों में खलों की निन्दा और सज्जनों के गुण-कीर्तन का विधान है।

‘कचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।’

महाकाव्य में, जिसको अंग्रेजी में Epic कहते हैं, जातीय सद्गुणों का वर्णन रहता है।

‘सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्’

(भामह काव्यालङ्कार १।१९) महाकाव्य सर्गों में बँध हुआ होता है और उसमें बड़ों की बड़ी-बड़ी बातें रहती हैं। इसलिये हमको अपने जीवन की दिशा-निर्देश के लिये धर्म और महाकाव्यों की शरण लेनी पड़ती है।

हमारे यहां श्रुति अर्थात् वेद का सबसे अधिक मान है, वही धर्म का मूल स्रोत माना गया है। वेद में उपनिषद् भी शामिल हैं। वेदों के अनुकूल संतुलित जीवन का लक्ष्य है-- सबके साथ सम भाव, अद्वेष और सबके साथ प्रेम-भाव।

स हृदयं। सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाध्न्या ॥

अर्थात् हे मनुष्यो! मैं परमेश्वर तुम्हारे लिए हृदय और मन की समानता और इनसे उत्पन्न होने वाली पारस्परिक द्वेषहीनता की अवस्था की व्यवस्था करता हूँ। अर्थात् मैं चाहता हूँ कि तुम एक दूसरे से मिलकर रहो और एक दूसरे को प्रेम करो, ठीक उसी रह जिस तरह एक गाय नवजात बछड़े को करती है। तुलसीदासकृत रामचरितमानस के रामराज्य में सामाजिक साम्य (Social Harmony) की प्रशंसा क गयी है--

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

इस वैदिक आदर्श की प्राप्ति के लिये सबको त्याग के साथ भोग करने की आज्ञा दी गयी है। मानव-इच्छाओं और अभिलाषाओं का सीमा नहीं--हम चाहे बूढ़े हो जायँ किन्तु तृष्णा नहीं जीर्ण होती ‘तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।’ वह नया-नया रूप धारण करके हमारे सामने आती है; किन्तु संसार इतना सम्पन्न नहीं है कि सबकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकें। इसीलिये जीवन में त्याग और संतुलन की आवश्यकता बतलायी गयी है। हम इसलिये त्याग करें कि दूसरे कुछ हाथ-पैर फैलाकर रह सकें। इसीलिये ईशावास्योपनिषद् में यह उपदेश दिया गया है--

( ८४ )

इशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

अर्थात् संसार में जो कुछ है वह ईश्वर से व्याप्त है। अभिप्राय यह कि वह सब ईश्वर का है और ईश्वरमय है। इसलिये त्याग के साथ भोग करना चाहिये। दूसरों के लिये उनका भाग छोड़ देना चाहिये। अपने लिये आवश्यकता से अधिक न लेना चाहिये। दूसरे के धन पर लोभ की दृष्टि लगाना ठीक नहीं है।

संतुलित जीवन में त्याग और भोग का ऐसा संतुलन है। संक्षेप में, हमको चाहिये कि हम किसी दूसरे के धन की इच्छा न करें, अपने उचित भाग से अधिक न लें। यह तो हुआ समाज में व्यक्ति-व्यक्ति का संतुलन। व्यक्ति के भीतर भी अनेकों बातों का संतुलन वाच्छनीय है। सबसे बड़ा संतुलन है धर्म, अर्थ और काम। जीवन में धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये हैं। उनमें से मोक्ष का सम्बन्ध मरणोत्तर जीवन से है। धर्म, अर्थ और काम का इस जीवन से सम्बन्ध है। इनमें भी धर्म का सम्बन्ध दोनों लोकों से है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी द्वारा चित्रकूट में आये हुए भारतजी को तीनों को उचित महत्व देने का आदेश दिया गया है।

कञ्चिदर्थेन वा धर्ममर्थधर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥

कञ्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर ।

विभाज्य काले कालज्ञः सर्वान् वरद सेवसे ॥

( वाल्मीकीय रामायण अयोध्या १००। ६२-६३ )

अर्थात् शायत अर्थ से धर्म में अथवा धर्म से अर्थ में और दोनों में प्रीत और काम से तो बाधा नहीं पड़ती ? हे विजेताओं में श्रेष्ठ और काल के जानने वाले ! तुम तीनों के काल विभाजन कर तीनों का समान भाव से सेवन तो करते हो ? काम का अनुशीलन बुरा नहीं माना गया है। भारत मुनि ने कहा है--कि जो पवित्र है दर्शनीय है, वह शृंगार द्वारा ही अनुमित किया जाता है।

‘यत्किञ्चिल्लोके शुचिर्मध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गरेणानुमीयते ।’

श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है, ‘धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि मरतर्षम ।’ धर्म से अविरुद्ध काम मैं हूँ। रघुवंशी राजा लोग त्याग के लिए धन इकट्ठा करते थे, गर्व करने के लिए नहीं; सत्य की रक्षा और पालन के लिए वे थोड़ा बोलते थे, न कि दूसरे के तिरस्कार या अज्ञान के कारण; वे विजय लाभ करते थे, यश-प्राप्ति के लिये, न कि दूसरों का राज्य हड़पने के लिए ; और वे गृहस्थ

( ८५ )

धर्म में प्रवेश करते थे संतानोत्पत्ति-द्वारा पितृ-ऋण चुकाने के लिए, न कि कामोपभोग के लिए।

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मित्तभाषिणाम्।

यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥

( रघुवंश १।७ )

उसी कुल के महाराज दिलीप के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे समाज की स्थिति और रक्षा के लिए अपराधियों को दण्ड देते थे और संतान के लिए ही उन्होंने विवाह किया था। इस प्रकार उस बुद्धिमान् राजा के लिए अर्थ और काम भी धर्म के अंग बन गये थे।

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।

अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एवं मनीषिणः॥

( रघुवंश १।२५ )

सद्गुणों के साथ मनुष्य के दुर्गुण भी लगे रहते हैं। महाराज दिलीप अपने सद्गुणों को तदनुरूप दुर्गुणों के अभाव से संतुलित करते थे। उनमें ज्ञान था किन्तु वे उसकी डींग नहीं मारते थे। उनमें शक्ति थी, किन्तु वह दूसरों को सताने के लिये नहीं, वरन् क्षमा और रक्षा के लिए थी। वे दान करते थे, किन्तु आत्मप्रशंसा से दूर थे। इस प्रकार उनमें विपरीत गुण सहोदर की भाँति रहते थे।

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे शल्यघाविपर्ययः।

गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥

( रघुवंश १।२२ )

जीवन को संतुलित बनाने के अर्थ ही हमारे यहाँ के लोगों ने अपने जीवन को चार भागों में बाँट रखा था--ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास। रघुवंशियों के लिये कहा गया है कि वे बचपन में विद्याभ्यास करते थे, जवानी में विषय-विलास में पड़ते थे और वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्तिका अनुसरण करते थे और अन्त में योगद्वारा (रागद्वारा नहीं) शरीर छोड़ते थे।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

( रघुवंश १।८ )

चाणक्यनीति में भी कहा है कि जिसने जीवन के पहले भाग में विद्या नहीं अर्जित की, द्वितीय में धन नहीं कमाया और तीसरे में पुण्य नहीं लाभ किया, वह चौथे में क्या करेगा।

( ८६ )

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम् ।  
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति ॥

हमारे देश में और प्रायः सभी देशों में जिस संतुलन पर बहुत बल दिया है, वह है मन-वाणी और कर्म के सामंजस्य पर। दुरात्मा लोगों के मन में कुछ, वाणी में कुछ और कर्म वाणी से बिल्कुल भिन्न होता है, किन्तु सज्जनों में इसका उलटा होता है। उनके मन, वाणी और कर्म एक से होते हैं।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यददुरात्मनाम् ।  
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

( चाणक्यनीति )

गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो भगवान् की कृपा की कसौटी ही यही मानी है कि उनकी वाणी के अनुकूल कर्म हो।

तुम अपनायौ हों तबै ही परिजानि हों  
गढ़ि-गुढ़ि छोलि-छालि कुन्दकी-सी भाई बातें  
जसी मुख कहौ तैसी जियं जब अनिहौं ॥

( बवितावली उत्तरकाण्ड ६३ )

मनुष्य के जीवन को संतुलित बनाने और उसको भारतीय आदर्शों के अनुकूल ढालने में श्रीमद्भगवद्गीता ने सबसे अधिक उपकार किया है। उसने सबसे बड़ा संतुलन तो कर्म अकर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति का किया है। निष्काम कर्म का उपदेश देकर प्रवृत्ति को निवृत्ति मय बना दिया। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' उसका ज्ञान कर्म को गति और भक्ति को गति प्रदान करता है। और ज्ञान भी कर्म और भक्त से ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में योगी को अतिवादों (Extremes) से बचने को उपदेश दिया है। न उसको अधिक खाना चाहिए और न उसको अधिक सोना चाहिये और न इतना संन्यास करना चाहिए कि वह बहुत ही थोड़ा खाये और सोये। जो सन्तुलित आहार और विहार करता है और जीवन में संतुलित बुद्धि से काम लेता है तथा स्वप्न और जागरण में संयम रखता है, वह दुःख को प्राप्त नहीं होता।

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्रतः ।  
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥  
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।  
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

( १।५६-५९ )

जिसका मन दुःख के समय दुखी नहीं होता, सुख के समय सुख भोगना नहीं चाहता, जो राग, भय, और, क्रोध-से रहित है, वह स्थितप्रज्ञ मुनि कहलाता

( ८७ )

है। जो किसी चीज से प्रेम नहीं करता, अच्छी चीज को पाकर खुश नहीं होता और बुरी चीज को पाकर दुखी नहीं होता, उसकी बुद्धि निश्चल है।

इन्हें आदर्शों को लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी विनय-पत्रिका में संतस्वभाव का वर्णन किया है--

कबहुँक हों यहि रहन रहौंगो।

श्रीरघुनाथ कृपालु कृपातेँ संत सुभाव गहौंगो।

यथा लाभ संतोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो।

परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥

परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहित पावक न दहौंगो।

विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिँ दोष कहौंगो ॥

परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।

तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो ॥

---

## साहित्य और राष्ट्र निर्माण

मनुष्य सचेतन विचारशील प्राणी है। विचार शब्द में चित्शक्ति से प्रेरित सारा भाव जगत आ जाता है। दृश्य जगत की वस्तुओं से जो हमारे मन में भाव और विचारमयीं प्रतिक्रियायें होती हैं, वही भाषा में प्रसारित होकर साहित्य का रूप धारण कर लेती है। जगत् के दृश्यों में सचेत हम जैसे चलते फिरते सजीव प्रणियों के साथ पशु-पक्षी, कीट-पतंग, फल, पुष्पों और हरित पत्रावली से समान्वित पेड़ पौधे लगा गुल्मादि रंग-बिरंगे सतरंगी आभा लिए हुए मेघ मालाएं, हिमाच्छादित विशालकाय, पर्वत श्रृंग और नदी, कछार पत्थर और शाद्वल भूमि भाग, सभी कुछ आ जाते हैं। यह पाप-पुण्य, गुण दोषमय, सितासित ताने-बाने से बना हुआ विस्तृत जीवन-पट साहित्य की सामग्री बन जाता है।

साहित्य में विचार और भाव दोनों का समावेश रहता है किन्तु कहीं भाव की प्रधानता रहती है, तो कहीं विचार की। जहां भाव की प्रधानता होती है वहां वह काव्य कहलाता है और जहां विचार की प्रमुखात होती है वहां वह शास्त्र या विज्ञान के नाम से अभिहित होता है। तभी तो कहा गया है--

‘काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्’

**साहित्य, मानव-विकास का सचेतन अंग :** नाना रूप-रंगों से सुसज्जित, सुख-दुख की गंगा यमुनी धाराओं से आप्लावित संसार की जो मनुष्य में भावमयी या विचारमयी प्रतिक्रिया होती है वह मानव हिताय ही होती है। मनुष्य सृष्टि के विकास क्रम की एक शृंखला है। उसी के द्वारा सृष्टि प्रखरित हो अपना रहस्योद्घाटन करने लगती है प्रकृति का रहस्य समझकर ही हम प्रकृति का मुकाबिला करने और उसको अपनी परिचारिका बनाने में समर्थ होते हैं। मानव समाज का भी विकास मानव मन के रहस्यों के जानकारी से ही होता है। साहित्य मानव विकास का सचेतन अंग है।

सभ्य मनुष्य जब आत्म विवेचन करने लगता है तभी साहित्य का जन्म होता है। साहित्य सभ्यता का मधुरतम फल है। इसी से सभ्यता का माप होता है। इतना ही नहीं जहां साहित्य विकास का फल है वहां उसमें भावी उन्नति के बीज निहित रहते हैं।

**साहित्य का उतरदायित्व :** साहित्य मानव जाति के अव्यक्त विचारों को भाषा देकर उनका समाज में प्रचार करता है। विचार ही संसार का शासन करते हैं।

( ८९ )

जितने सुधार हुए हैं अथवा जिने युद्ध हुए हैं उन सबका मूल स्रोत विचारों को और भावों में ही है। इसलिए साहित्य का बड़ा उत्तरदायित्व है।

साहित्य अपने व्युत्पत्त्यर्थ में हित का विधायक है।

‘हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यम्’

साहित्य के साथ सदा मंगल और कल्याण की भावना लगी रह है। उसको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का विधायक माना गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है--

कीरति भणित भूति भल सोई।

सुरसरि सम सबकह हित होई॥

साहित्य लोक हित का साधक है। हित का अर्थ है ‘विदधति इति हितम्’ जो बनावे वही हित है। जो व्यक्ति या राष्ट्र को बनावे वही हित है। व्यक्ति का सच्चा हित राष्ट्र के हित में है और राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित में है। दोनों का अवश्यम्भावी सम्बन्ध है।

साहित्य ने ‘कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे’ स्त्री का सा प्रेम का उपदेश देने के कारण सहस्रों मनुष्यों को सन्मार्ग दिखाया है। तुलसी ने नीति समन्वित भक्ति का प्रचार कर म्रियमाण हिन्दूजाति में नव जीवन का संचार किया था। विहारी के एक ही दोहे ने मिर्जा राजा जय सिंह को राजकाज में प्रवृत्त कर दिया। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के उत्साह को द्विगुणित कर दिया होगा।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी कवियों का सराहनीय योगदान रहा है। भातेन्दु हरिश्चन्द्र ने ‘धनविदेश चलि जात यही अति ख्वारी’ कह कर जनता का अंग्रेजों द्वारा शोषण की ओर ध्यान दिलाया। मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती बहुत दिनों तक लोगों का कंठहार बनी रही। बालकृष्ण शर्मा नवीन की, ‘कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाय’, ‘गयाप्रसाद शुक्ल सनेही “जी न चुराओ जीवन रण से, समर सुरबत् डटे रहो” ईश्वरीय आदेश यही है निर्बलता से हटे रहो’ माखनलाल चतुर्वेदी की (फूल की अभिलाषा) पन्त (विश्व वेदना में तप प्रतिपल, जग जीवन की ज्वाला में जल) निराला (जागो फिर एक बार) आदि कवियों ने अपनी ओजस्वी बाणी द्वारा राष्ट्रेत्थान में विशेष सहायता दी।

**हमारा दायित्व :** पूज्य बापू के सत्प्रयत्नों से १५ अगस्त सन् १९४७ को हमको स्वतंत्रता के दर्शन हुए। स्वतन्त्रता प्राप्त कर हमारे कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो गई। हमारे ऊपर उतना ही दायित्व है जिनता कि राजनीतिज्ञों का। एशिया की नव जाग्रति में हमारा विशेष हाथ है। हमको शान्ति का संदेश विश्व के कोने-कोने तक



पहुंचाना है। जब तक जनता में राष्ट्रीय विचारों का प्रसार न होगा तब तक हमारे नेतओं को प्रजा का सहयोग नहीं मिल सकता है। हमारे साहित्यिक जब तक 'संगच्छ ध्वयं' की वैदिक वाणी की पुनरावृत्ति नहीं करेंगे, तब तक हमारे कार्यों में एक-रसता नहीं आएगी। हमारे कवियों को जनता में राष्ट्रीय गौरव की भावना भरना है। उसके बिना जनता देश की रक्षा के लिए तैयार नहीं हो सकती है। हमको राष्ट्र का नैतिक स्तर उठाना है, भ्रष्टाचार के विरुद्ध लोकमत तैयार करना है। नव निर्माण की भावना लोगों में जाग्रत करनी है। इसके लिये गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य चाहिए। तुलसी और कबीर के कार्य की पुनरावृत्ति होना आवश्यक है।

**समन्वयशील मानवता का प्रचार :** जहां देश अनेकों पुनर्निर्माण के कार्य कर रहा है वहां एक समन्वयशील मानवता प्रधान संस्कृत का प्रचार करना हमारे कवियों का काम है। भारत अपनी आक्रमणकारी शक्ति पर गर्व नहीं करता, उसने सबको अभय दान दे रखा है किन्तु जब तक शांति का प्रचार दुनिया में न होगा तब तक अहिंसा नीति पूर्णतया सफल नहीं हो सकती है। नव-जागृत राष्ट्रों के नेतृत्व का भार हम पर आया है। चारों ओर जागरण का भेरीनाद हो रहा है। हमारे कवियों को इस विस्तारोन्मुख वातावरण को अपनी कविता में अवतरित करना है जिससे जनता संकुचित विचारों की चहारदीवारी से बाहर आकर उन्मुक्त आकाश मंडल के नीचे स्वतंत्रता की सांस ले सके और दूसरों को 'जियो और जने दो' का पाठ पढ़ा सके।

हमको वह मनोवृत्ति पैदा करनी है जिसमें संकुचित भेदभाव जाते रहें। हम राष्ट्र की उन्नति में अपनी उन्नति मानें, राष्ट्र को अपना समझें और अपने को राष्ट्र का, जिससे हम राष्ट्र के लिए जियें और राष्ट्र के लिए मरें।

हमारे कविगण लोगों को जीवन को सम्पन्न कलामय और नीति परायण बनाने का उपदेश दें जिससे हमारे राज्य में परिश्रम के जीवन सौष्ठव के साथ पूर्व के उच्च आध्यात्मिक विचारों का प्रचार हो सके।

पश्चिमका जीवन सौष्ठव हो विकसित विश्वतन्त्र में वितरित,

प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू-तमस तिरोहित। - पंत

कविवर पन्त ने जो कवींद्र रवींद्र के आह्वान में कहा है वह हमारे प्रत्येक कवि के लिए चरितार्थ हो।

आया फिर जग के समक्ष जिसमें नवजीवन

नवमानवपनका उज्ज्वलमुख प्रतिबिंबित हो।

आज धारा के अन्धकार में उसका जगमग

कांचन दो उडेल, जीवन प्रभात में

- रंग दो जनमन के नभ को नवअरुणोदय से

## हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप निराधार

हिन्दी यद्यपि बहुमत से राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है तथापि हिन्दी के समर्थक उसका व्यापक प्रचार किसी राजकीय सत्ता के आधार पर नहीं चाहते, वरन् वे देश की एकता के लिए एक विनम्र प्रचारक के रूप में उसका अधिक-से-अधिक प्रचार चाहते हैं। हिन्दी प्रांतीय और प्रादेशिक भाषाओं को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाकर नहीं, वरन् उसकी वृद्धि और समृद्धि की मंगल-कामना करती हुई अपना सार्वदेशिक प्रसार चाहती है। वह प्रान्तीय भाषाओं को उनके भाषियों के हृदय-मन्दिर के अधिकार से पदच्युत नहीं करना चाहती, वरन् राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधने और बौद्धिक सहयोग के लिए एक विदेशी भाषा के स्थान पर, जिसका देश की संस्कृति से कोई सम्बन्ध न था, एक व्यापक देशी भाषा देती है। वह देशी भाषा किसी प्रान्तीय भावना को लेकर नहीं आती है; वह राष्ट्र-हित की भावना से राष्ट्र के हित को अपना हित समझती है। प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति से राष्ट्र में सम्पन्नता आती है और इस नाते उनकी उन्नति का वह स्वागत करती है; किन्तु जहाँ वह प्रथक-प्रथक प्रान्तों की भाषा और संस्कृति के संरक्षण और विकास का स्वागत करती है, वहाँ वह केन्द्रीयकरण की उन शक्तियों पर भी बल देती है जो एकता की ओर ले जाती हैं। वह जहाँ भाषा को प्रान्तीय संगठन का माध्यम स्वीकार करती है, वहाँ ऐसी केन्द्रीय भाषा की भी आवश्यकता समझती है, जो संगठित प्रान्तों में भाषा और विचार सम्बन्धी सहकारिता में योग दे सके।

**हिन्दी और भारतीय संस्कृति :** हिन्दी अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साथ जितना साम्य रखती है उतना अंग्रेजी नहीं। अंग्रेजी पढ़े-लिखों की ही भाषा हो सकती है, जनसाधारण की नहीं। अंग्रेजी के पीछे संस्कृति भी विदेशी ही है।

हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाएं चाहे वे उत्तर की हों चाहे दक्षिण की, एक भारतीय संस्कृति का आधार लेकर पनपी हैं। उनको एक ही धर्म का पोषण मिला है। राम-कृष्ण की पावन गाथाओं ने सबको समान रूप से आल्पावित किया है। सप्त पुरियों में जहाँ मथुरा, माया, काशी को स्थान है वहाँ कांची को भी है। मदुरा मथुरा का ही रूपान्तर है। गंगा-जमुना के साथ गोदावरी और कावेरी का नाम स्नान के समय लिया जाता है। गंगोत्री का जल रामेश्वरम् पर चढ़ाया जाता है। दक्षिण के शंकर, रामानुज और वल्लभ की विचारधारा से सारा भारतीय साहित्य प्रभावित है। हिन्दी ने उसी भारतीय संस्कृति से पोषण ग्रहण किया है। सूर और तुलसी वल्लभ, रामानुज और रामानन्द से ही अनुप्राणित है।

**हिन्दी का अद्वेष-भाव :** हिन्दी का किसी भाषा से द्वेष नहीं है। उसने हृदय खोलकर दूसरी भाषाओं के विशेषकर भारतीय भाषाओं के साहित्य को अपनाया है।

हिन्दी में अन्य प्रान्तीय भाषाओं से जितने अनुवाद हुए हैं। उतने अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में नहीं हुए हैं। उन्नत साहित्य रखते हुए भी वह अपने ऊपर गर्व नहीं करती और न दूसरी भाषाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। उसकी विनम्रता और कुछ-कुछ अनावश्यक हीनता ही उसकी उदारता का कारण बनी है। उसने सबके साथ मेल-मिलाप रखने को राष्ट्रभाषा का उत्तरदायित्व स्वीकार किया है।

**हिन्दी और उर्दू :** हिन्दी का उर्दू के साथ भी कोई विशेष विरोध नहीं है। यदि लिपि भेद न हो तो उसका बहुत कुछ हमारा साहित्य हो सकता है। हमारा विरोध केवल इतना कि उसने हिमालय और गंगा के गीत न गाकर कोहकाफ और फारस की नदियों की शोभा का वर्णन किया है। उसने अर्जुन और भीम के स्थान में रुस्तम, और कर्ण, शिवि, दधीचि के स्थान में हातिम के गुणगान किए हैं। रुस्तम और हातिम से हमें द्वेष नहीं है, किन्तु हम अर्जुन, भीम और कर्ण को भूलना नहीं चाहते। कोयल की कूक और पपीहे की पुकार के स्थान में उर्दूवालों ने बुलबुल के तराने गाए हैं। उर्दू ने बहुत अंशों में फारसी और अरबी के व्याकरण को अपनाया है। फिर भी उर्दू की अधिकांश जमीन खड़ी बोली की ही है, बेल-बूटे कुछ भिन्न हैं। इस कारण हमारे बहुत से लेखक-बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द, सुदर्शन, अशक आदि-समान रूप से उर्दू और हिन्दी लिखने में सफल हुए। जो उर्दू के मुसलमान लेखक-जैसे नजीर, मीर आदि-भारतीय परम्परा के निकट रहे, उनके लिए हमारे हृदय में वही आदर का स्थान है जो किसी हिन्दी वाले के लिए हो सकता है।

**ठंडे दिल से सोचने की आवश्यकता :** इन सब बातों को ध्यान में रखे हुए हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप करना उसके साथ अन्याय करना है। ये नारे सार-शून्य होते हैं, किन्तु प्रभाव अधिक रखते हैं। किसी को नीचा दिखाने के लिए उसको अत्याचारी और अपने को अत्याचार-पीड़ित कहने लग जाओ तो सहज में लोग बिना सोचे-समझे उसके विरुद्ध हो जाते हैं। यह दूषित आरोप लगाने से पूर्व ठंडे दिल से विचार कर लेना आवश्यक होगा। राष्ट्रहित के लिए एक केन्द्रीय भाषा आवश्यक है, वह कोई विदेशी भाषा नहीं हो सकती। हिन्दी अपनी व्यापकता, सम्पन्नता और ग्रहणशीलता के कारण इस पद के लिए सर्वथा उपयुक्त है। वह अपना प्रसार शक्ति के बल पर नहीं, प्रे, भ्रातृभाव और राष्ट्रीयता के बल पर चाहती है।

### हिन्दीवाले जल्दबाज है ?

हिन्दी के समर्थकों पर जो दूसरा आरोप लगाया जाता है वह यह है कि वे

लोग बड़े जल्दबाज हैं और इस जल्दबाजी के कारण देश को अहित कर रहे हैं। यह भी एक भ्रान्त धारणा है। हिन्दी वाले अंग्रेजी को एकदम विदा नहीं करना चाहते, किन्तु उनको दुःख इस बात का है कि अंग्रेजी को उचित महत्व देते हुए भी उनको इस बात का उपदेश दिया जाता है कि अभी हिन्दी के श्रीगणेश तक का भी समय नहीं आया है। अधिकारी लोग जब सावधानी का उपदेश देते हुए ऐसी मुद्रा धारण कर लेते हैं कि हिन्दी की उन्नत के लिए हम प्रयत्नशील हैं, आपको चिन्ता किस बात की है ; तभी हमको कहना पड़ता है कि आपने कार्य की गुरुता को नहीं समझा है। हाथ-पर-हाथ रखे रहने से पन्द्रह क्या बीस वर्ष में भी वह अपना उचित स्थान नहीं ले सकेगी। हिन्दी के सर्व-सम्पन्न बनाने के लिए जितना प्रयत्न चाहिए उसका जब दशांश भी नहीं होते दिखाई देता, तब हिन्दी वालों को शीघ्रता करने की मांग करनी पड़ती है। ढील सरकार की रहती है, पर जल्दबाजी का आरोप हिन्दीवालों पर किया जाता है, चोर कोतवाल को डाँटता है।

**प्रगतिगामिनी प्रवृत्तियाँ :** हिन्दी की बात टालने के लिए ही कभी तो अंग्रेजी के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व पर बल दिया जाता है और कभी संस्कृत का प्रेम उमड़ पड़ता है। हम न अंग्रेजी के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को अस्वीकार करते हैं और नहम संस्कृत की गौरवगरिमा को कम करना चाहते हैं। अंग्रेजी को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व अवश्य है, किन्तु भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अच्छा रखने के साथ अपना अन्तर्प्रान्तीय भीतरी संगठन भी चाहता है। उसके लिए हिन्दी की उन्नति आवश्यक है। भारत नित्य के व्यवहार के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है। वह कबीर के शब्दों में 'जूठी पत्तल चाटकर' नहीं जीना चाहता है। प्रांतीय सहकारिता के साथ वह एक राष्ट्रीय विचारधारा का निर्माण चाहता है। हिन्दीवाले संस्कृत को प्रांतीय भाषाओं की मातामही मानते हैं। यदि उनका संस्कृत से सीधा सम्बन्ध है नहीं तो भी वे उससे प्रभावित अवश्य हैं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से संस्कृत जनसाधारण की भाषा नहीं हो सकती। उससे हमको शब्द-भण्डार मिलेगा। उसमें हमारी संस्कृति के स्रोत निहित हैं। उससे शक्ति और प्रेरणा मिलेगी, किन्तु नित्य का काम नितान्त घी और मेवा से नहीं चलता, उनके साथ रोटी दाल भी चाहिए, उस रोटी दाल का काम हिन्दी ही देगी। एक तरफ तो संस्कृत की शब्दावली दुरूह बतलाई जाती है ; दूसरी ओर ठेठ संस्कृत की पुकार की जाती है।

**अंग्रेजी उर्दू का अध्ययन वर्जित नहीं :** अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए भले ही आवश्यक हो; उच्च वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए भी हम उसका महत्व स्वीकार करते हैं ; किन्तु न तो सबको कूटनीतज्ञ बनना है और न सबको उच्च अनुसंधान कार्य में प्रवेश करना है। उर्दू पढ़ने से फारसी अरबी का ज्ञान चाहे कछ

सुलभ हो जाए, किन्तु इतनी योग्यता नहीं आ सकती कि पूर्वी देशों में राजदूत बन सकें और न सबको इतने अवसर मिल सकते हैं। उसके लिए राजनीति का भी ज्ञान अपेक्षित है। हां, उर्दू-अदब के अनुशीलन के लिए किसी पर रोक नहीं। एक साहित्यिक के लिए वह अतिरिक्त गुण होगा।

**अनधिकारी संस्थाओं को हिन्दी का काम :** हिन्दी का स्वरूप बिगाड़ने के लिए, चाहे वह अनजाने ही क्यों न हो (हम उद्देश्यों और आशयों पर आक्षेप करना अनुचित समझते हैं), उसका काम जामिया मिलिया, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा या ऐसी ही कल्चरल सोसायटी को दिया जाता है जो हिन्दी के सम्बन्ध में जनता के मत से कुछ भिन्न मत रखती हैं। यह काम नागरी प्रचारिणी सभा या हिन्दी साहित्य सम्मेलन को, जिन पर जनता का विश्वास है, नहीं दिया गया है। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा द्वारा एक कोश का नर्माण हो रहा है, जिसमें संस्कृत के प्रचलित शब्दों का भी बहिष्कार किया जा रहा है। भारतीय संघ के लिए 'हिन्द इकावा' रख गया है। 'अनाउन्स' के लिए 'खोलनिया' शब्द रखा गया है। घोषक या उद्घोषक क्या बुरा था? मालूम नहीं, हिन्दी विश्वकोश बनाने का सोचा गया है या नहीं और यदि सोचा गया है तो वह किस भाग्यवान संस्था को सौंपा गया है? उसके लिए किन अधिकारी विद्वानों की समिति बनाई गई है? यह हम जानते हैं कि कोश बनाने से भाषा नहीं बनती, भाषा के बनाने वाले कवि, साहित्यकार, विचारक और वैज्ञानिक होते हैं; किन्तु ऐसे साहित्य निर्माण के कार्य विधिवत और एक विशिष्ट आयोजनानुसार नहीं हुए हैं। इसके लिए लेखक तो दोषी है, किन्तु सरकार की ओर से भी ऐसा कोई आश्वासन नहीं मिला है कि उनकी लिखी चीजों का विश्वविद्यालयों में प्रयोग होगा।

इन्हीं बातों के कारण हिन्दी प्रेमी लोग अधीर हो उठते हैं और हिन्दी के पृथक मंत्रालय की पुकार करते हैं।

### **क्या हिन्दी दुरूह बनाई जा रही है ?**

कुछ लोगों की शिकायत है कि जो हिन्दी आजकल लिखी जाती है, 'आम फहम' नहीं है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि बहुत से शब्द जिनको वे आम फहम कहते हैं, हिन्दी वालों के लिए दुरूह हैं। स्वयं 'आम फहम' शब्द भी सबकी समझ में नहीं आता। यह भी कहा जाता है कि हिन्दी में संस्कृत का अधिक पुट दिया जाता है। भाषा के गौरव, उसकी एक रूपता और उसके स्थायित्व के लिए संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। तत्सम एक ही प्रमाणिक रूप रहता है, तद्भव के कई रूप हो जाते हैं।

**अंग्रेजी शब्द अभ्यास में ही सुलभ हैं :** अंग्रेजी शब्द भी उतने सुलभ नहीं

हैं जितने समझे जाते हैं। कोई उच्च विचार प्रधान पुस्तक लीजिए जिसमें प्राणिशास्त्र अथवा स्वास्थ्य सम्बन्धी अथवा अर्थशास्त्र या राजनीति सम्बन्धी विषयों की चर्चा हो; वह मैट्रिक क्या बी० ए० तक के विद्यार्थी के लिए दुरूह होती है। मनोविज्ञान की कोई किताब उठाइए ; वह सहज में समझ में नहीं आती। समझने के लिए अध्ययन और अभ्यास चाहिए।

**अंग्रेजी में भी लेटिन का पुट :** हिन्दी को संस्कृतमय बनाने का विरोध करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि उनकी सुपरिचित अंग्रेजी में लेटिन का कितना पुट है। हम लोग थर्मामीटर, नार्मल एनेस्थेटिक (बेहोश करने की दवा), डिहाइड्रेटेड (पानी निकला हुआ), ओरल (मौखिक), लिथोटोमी (पथरी काटना), आरथोडाक्स (प्राचीन पंथी), ओक्टेगोनल (अठपहलू), बाइसेक्ट (दो भागों में काटना), लेक्टेसन (दूध देना), ओरिएंटल (प्राच्यविषयक), जियोलोजी (भूशास्त्र), जियोमेट्री (रेखागणित), हाइड्रोमीटर, मोनोलोग (एकापात्रीय वार्ता) डायलाग, प्रोलोग, यूनीलेटरल, बाईलेटरल, आदि सैकड़ों नहीं सहस्रों शब्द लेटिन से उद्भूत हैं। फिर संस्कृत बेचारी ने क्या बिगाड़ा है ? जिस प्रकार ये शब्द व्यवहारसे सुलभ हो गए हैं, वैसे ही हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द भी सुलभ हो जाएंगे। समय और धैर्य अपेक्षित है।

**नितान्त बहिष्कार नहीं :** यद्यपि हम अपनी भाषा को उसकी प्रकृति के अनुकूल संस्कृत-प्रधान बनाना चाहते हैं तथापि हम विदेशी प्रचलित शब्दों का बहिष्कार नहीं चाहते। हम न तो रेलगाड़ी को 'लोहपट्टिकागामिनी वाष्पशक्ति' कहना चाहते हैं और न लालटेन को 'दीप मंदिर'। हलवाई की भी शुद्धि करके 'मोहन भोग-कारक' नहीं बनाना चाहते। 'सूपकारी (रसोइया) शब्द को चाहे पुनर्जीवन प्रदान कर दें, किन्तु उन शब्दों को जो विदेशी संस्कृति लेकर आए हैं- जैसे बाबर्ची या खानसामा--प्रोत्साहन नहीं देना चाहते। ऐसे कोई सिद्धांती पुरुष, जो प्रत्येक शब्द का रूपान्तर करने को उत्सुक हों, भले ही मिल जाएं, किन्तु ऐसे थोड़े ही हैं और उनसे हिन्दी का भविष्य निर्माण नहीं होता। नेकटाई के कंठलँगोट वाले अनुवाद का चाहे मजाक उड़ा लिया जाए, यह शब्द न तो संस्कृत प्रेमियों का है--वे तो नेकटाई से बहुत दूर--और न हिन्दी प्रेमियों का (हिन्दुस्तानी वालों का चाहे हो)। हिन्दीको बदनाम करने वाले चाहे जिन शब्दों का आविष्कार कर लें। साथ ही हिन्दी वाले इस पक्ष के नहीं हैं कि धड़ाधड़ अंग्रेजी और फारसी के शब्दों का थोक माल का सा आयात किया जाए। कुछ विदेशी शब्द चाहे व्यवहार में आ जाएं किन्तु उनसे क्रियाएं और विशेषण बनाना कठिन हो जाता है।

### पारिभाषिक शब्दों की कमी

पारिभाषिक शब्दों की कमी अवश्य है, किन्तु जितने शब्द बन गए हैं उनका भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जा रहा है। असली शब्दावली पुस्तकों से बनती है, पहले मांग होनी चाहिए तब पुस्तकें अस्तित्व में आएंगी। यह एक दूषित चक्र है कि पुस्तकें नहीं हैं, इसलिए हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनाई जा सकती और पुस्तकें तभी बनेगीं जब हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम हो। बिना पानी में पैर दिए तैरना नहीं आता है। इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए साहस चाहिए। प्रोफेसर लोग प्रारम्भ में चाहे अंग्रेजी की शब्दावली का प्रयोग करें किन्तु हिन्दी में पढ़ाई प्रारम्भ कर दें। गाड़ी का पहिया आगे लुढ़कना चाहिए, फिर तो वह गति प्राप्त कर ही लेगा।

यह कहना किसी अंश में ठीक है कि हिन्दी में शब्दावली का प्रमाणीकरण नहीं हुआ और सब लेखकों ने अपनी 'डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाई है।' पहले तो यह प्रयोग काल है। शब्द ढलते-ढलते ही टकसाली बनेंगे। प्रमाणीकरण या तो सरकार का काम है या विश्वविद्यालयों के किसी संघ का। यदि विश्वविद्यालय अपने पाठ्यक्रम के पाठ्य-विषयों की सूची हिन्दी में दें तो लेखकगण भी उसी शब्दावली का प्रयोग करेंगे। शब्दावली थोड़ी-बहुत अनुपयुक्त भी हो किन्तु उस पर प्रामाणिकता की मुहरछाप लग जाने से वह चल पड़ती है। मुहरछाप लग जाने से निकिल भी चांदी का काम देता है। अंग्रेजी की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में उड़द के लिए मूंग शब्द चल पड़ा है, वही चल रहा है। मूंग के लिए दूसरा शब्द बनाया गया।

विधान की शब्दावली कुछ कठिन चाहे हो, किन्तु गौरवपूर्ण है। उसको कुछ सहज बनाया जा सकता है, किन्तु इतना सहज न बनाया जाय कि भारतीय संघ का हिन्द इकावा कर दिया जाय विधान का गौरव रखना आवश्यक है।

**प्रोफेसरों का कर्तव्य :** प्रोफेसरों को चाहिए कि वे हिन्दी में लिखें। राष्ट्रभाषा के प्रति प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा जितनी कम होगी उतना ही उसका क्षेत्र बढ़ेगा और जितने ही उच्च विचारक हिन्दी में लिखेंगे उतनी ही हिन्दी के प्रति उपेक्षा कम होगी। हिन्दी में ठोस सामग्री आनी चाहिए। यदि वे कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की चीज लिखें तो उसका अंग्रेजी में भी रूपान्तर कर दें किन्तु हिन्दी वालों को उससे वंचित न रखें। प्रान्तीय भाषाओं में हिन्दी की उपेक्षा कुछ इस कारण भी है कि उच्च विचारक अंग्रेजी में लिखते हैं। यदि वे अंग्रेजी में लिखने का मोह छोड़ दें तो हिन्दीको अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनने में दे न लगेगी।

### ‘हिन्दी में कुछ नहीं और सब कुछ है’

जो लोग हीनता-भाव-वश यह समझते हैं कि हिन्दी में कुछ नहीं, वे गलती पर हैं जो लोग यह समझते हैं कि वह सर्वसम्पन्न है वे भी भूल करते हैं। वैसे पराई पत्तल का भात चाहे अच्छालगे, लेकिन हिन्दी आज किसी प्रान्तीय भाषा से पीछे नहीं है। यूरोपीय भाषाओं के ज्ञान-विज्ञान के साहित्य में वह उनकी समता नहीं करती, किन्तु रसात्मक साहित्य में वह बहुत पीछे नहीं है। हिन्दी में सूर, तुलसी, कबीर आदि बेजोड़ हैं सूर का-सा बाल-साहित्य संसार में कठिनता से मिलेगा। भूषण और लाल में अनुपम ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है बिहारी, देव, मतिराम श्रृंगारिक कवियों के सिरमौर हैं। आजकल का भी काव्य-साहित्य हमारे गर्व की वस्तु है। ‘कामायनी’ विश्व-साहित्य की किसी पुस्तक से टक्कर ले सकती हैं। साकेत और प्रिय प्रवास में रामकृष्ण-काव्य को एक नई दिशा मिली हैं। हमारा गीति-काव्य बड़ा सरल और विचारपूर्ण हैं। माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्य-देवता की-सी भावुकता अन्यत्र मुश्किल से देखने को मिलेगी। पन्त-निराला की दार्शनिक विचार-धारा ने कविता के स्तर को ऊँचा उठाया हैं। राष्ट्रीय उत्थान में हिन्दी कविता ने सराहनीय योग दिया हैं। प्रसाद के नाटकों में द्विजेन्द्र बाबू की भावुकता के दर्शन होते हैं।

हिन्दी में प्रायः सभी भाषाओं के विशेषकर प्रान्तीय भाषाओं के कथा-साहित्य का प्रचुर मात्रा में अनुवाद हुआ हैं। उसका अपना कथा-साहित्य भी बड़ा सम्पन्न हैं। मुंशी प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, अशक, अज्ञेय, राहुल आदि ने इसकी खूब श्री-वृद्धि की हैं। इतिहास के क्षेत्र में अधिक नहीं हुआ तो भी गौरीशंकर हीराचंद ओझा, जयचन्द्र विद्यालंकार, महाराजकुमार रघुवीरसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्राचीन साहित्य और संस्कृति के अनुसन्धान-कार्य में राहुल सांकृत्यायन, डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर मोतीचन्द, रायकृष्णदास आदि अग्रणी गिने जाते हैं। पाश्चात्य विचारकों के कुछ के तो सीधे यूनानी, फ्राँसीसी और जर्मनी से भी अनुवाद हुए हैं किन्तु वे थोड़े हैं। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि पर उत्तम पाठ्य-पुस्तकें निकल रही हैं। हास्य के साहित्य में भी हम पिछड़े हुए नहीं हैं। आलोचना-साहित्य खूब पल्लवित हो रहा हैं। तुलना करना ग्रामक और ईर्ष्या-द्वेष-पूर्णबात हो जाती हैं। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल सभी प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ हैं। हिन्दी किसी से पिछड़ी हुई नहीं हैं। उसमें कुछ अपना भी देने को हैं।

हिन्दी में क्या नहीं हैं, इसकी सूची बहुत बड़ी हैं, किन्तु हमको यह न भूल जाना चाहिए कि जो उन्नति अँग्रेजी ने दो सौ वर्ष में की हैं वह हिन्दी बीस वर्ष में



( ९८ )

नहीं कर सकती। अभी हमारे यहाँ मौलिक विचारकों की अपेक्षाकृत कमी हैं। स्वतन्त्रता के साथ मौलिक विचार के अवसर भी बढ़ेंगे। अनुसन्धानशालाएँ खुल रही हैं। अभी हमारा वैज्ञानिक साहित्य अछूता पड़ा है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, डाक्टरी और इंजीनियरी की विभिन्न शाखाओं की पुस्तकें अँग्रेजी में ही हैं। उनके लिए हमारे विद्यार्थियों को अँग्रेजी की शरण लेनी पड़ेगी। हमको अपनी सीमाओं को भूल न जाना चाहिए। ज्ञान का सागर अपार है। उसके संतरण के लिए हम बांस और घड़ों की घनई भी तैयार नहीं कर पाए हैं। इसीसे हम सरकार की प्रगति से काम न चलेगा। समुद्र का सेतु बाँधने के लिए राम की सेना का सा विशाल प्रयत्न अपेक्षित है। जनता का भी उत्तरदायित्व है। वह भाषा और सहित्य के सम्बन्ध में स्वदेशी भावना को अपनाए। विचारक लोग हिन्दी में लिखकर राष्ट्रीय साहित्य उत्पन्न करें। वैज्ञानिक साहित्य से सम्पन्न न होते हुए भी हिन्दी के लिये निराश होने की आवश्यकता नहीं। हमको उन्नति के मार्ग में चल पड़ना है। चलता हुआ आदमी अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

---

## लेखक और प्रकाशक

समाज में कई प्रकार के व्यवसाय चलते हैं। किन्हीं व्यवसायों में, जो प्रायः छोटे होते हैं, मजदूर, पूँजीपति, वितरण-कर्ता और विज्ञापन-कर्ता सब एक ही में मिले हुए होते हैं। बहुत से खोंमचे वाले स्वयं ही मिठाई या और कोई छोटी उपयोग की वस्तु बनाते हैं और उसे मुहल्ले-मुहल्ले आवाज लगाकर बेचते हैं, किन्तु जहाँ उत्पादन बड़े परिमाण में होता है वहाँ पूँजीपति को बाहर की मजदूरी का सहारा लेना पड़ता है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में मजदूर और पूँजीपति दोनों का योग रहता है। दोनों में सुख-सुविधाओं तथा आय के वितरण में संघर्ष रहता है। सरकार इस संघर्ष को यथासम्भव कम करने में योग देती है।

पुस्तक-व्यवसाय एक बड़ा व्यवसाय है और इसमें उत्पादन के दो अंगो का विशिष्टीकरण हो गया है। पुस्तक-व्यवसाय के दो ही मुख्य अंग हैं- लेखक और प्रकाशक। वैसे तो पुस्तक व्यवसाय में लेखक के अतिरिक्त मशीनमैन, कागज-विक्रेता, कम्पोजीटर (जो अक्षर भगवान् को भी अपनी अंगुली के पोरुओं पर नचाते रहते हैं) और दफतरी महोदय आदि सभी का महत्वपूर्ण स्थान रहता है, किन्तु ये सब प्रकाशक के आश्रित रहते हैं। ग्रन्थ-रचना का कार्य लेखक या कवि करते हैं। उनका सृजन-कार्य कई उद्देश्यों से प्रेरित होता है। उनमें मुख्य होते हैं- 'स्वान्तः सुखाय' (जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी में)। यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में इतर लेखकों में भी सृजन की अदम्य प्रेरणा के रूप में रहती है। 'अर्थ कृते' (जैसी आजकल प्रायः सभी मसिजीवी लेखकों में होती है) 'उदरनिमित्तं बहुकृतवकषः' में ग्रन्थ-रचना भी है और 'यशसे' (जैसे कालिदास, भवभति में)। आजकल के लेखकों में किसी-न-किसी रूप में तीनों ही प्रेरणाएँ होती हैं। कभी-कभी 'अर्थकृते' बेचारे लेखकों को दूसरों के लिए गुमनाम भी लिखना पड़ता है। उनकी स्वार्थसिद्धि तो होती है किन्तु सुकृत नहीं मिलता है।

लेखक ग्रन्थ-रचना करके अपेक्षाकृत रूप से छुट्टी पा जाता है। ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को, जो कभी-कभी मेरी पाण्डुलिपियों की भाँत बड़ी अस्त-व्यस्त होती हैं, नयनाभिराम रूप में मुद्रण और आकर्षक कवर के साथ जिल्द बँधवाकर बाजार में लाने, उनके स्टॉक करने तथा विज्ञापन और ओलाचना कराने एवं सम्मतियाँ एकत्रित करने तथा लेखकों और प्रकाशकों के भाग्य-विधायक कमेटी के मेम्बरों के द्वार खटखटाके और खुशामद करने का गुरुतर भार प्रकाशक पर रहता है। जैसे 'भारो हित महान् कबेः' कहा जाता है वैसे हमको ईमानदारी से कहना पड़ता है 'भारो हि

महान् प्रकाशकस्य'। किन्तु प्रकाशक यह सब-कुछ धर्मार्थ नहीं करते हैं। वे अपनी मेहनत और अपने रुपये को ब्याज समेज वसूल कर लेते हैं। कभी-कभी नुकसान भी उठाते हैं, जिससे लेखक मुक्त रहता है। प्रकाशक महाराज ही लेखकों के हाथों की खुजली, पुस्तक छापकर और रुपया देकर मिटाते हैं। लेखक और प्रकाशक के शुभ सहयोग में ही साहित्य-समृद्धि की एक-मात्र आशा है। इसलिए दोनों को अपने-अपने कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान आवश्यक है।

लेखक और प्रकाशक दोनों के अलग-अलग कर्तव्य और अधिकार हैं। प्रकाशकों में स्वयं लेखक कम होते हैं, इसलिए वे लेखकों के परिश्रम और कठिनाई का अन्दाजा नहीं लगा सकते। ग्रन्थ-रचना की प्रसव-पीड़ा कुछ कम नहीं होती। उसके लिए दिन और रात को एक करने वाले स्वेद-स्नात परिश्रम तथा 'अभ्यासेन परिप्रश्नेन सेवया' और आजकल प्रचुर धनेन अर्जित ज्ञान के कोष का उपयोग करना और उसकी पूर्ति के लिए पुस्तकालयों में भटकना तथा गरीबी से संघर्ष करते हुए बाल-बच्चों के कोलाहल क्रन्दन के बीच भूख-प्यास को तिलांजलि देकर लिखना इन सब बातों को प्रकाशक अनुमान ही कर सकते हैं 'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जन परिश्रमम्'। प्रकाशक बेचारे क्या जाने? 'जाके पाँव न फटी विवाई सो का जाने पीर पराई।' लेखक को भी प्रकाशक की कठिनाइयाँ जानना आवश्यक है। कठिनाइयों के पारस्परिक ज्ञान से ही लेखक और प्रकाशक के सम्बन्ध अच्छे रह सकते हैं।

अच्छे सम्बन्धों के निर्वाह में जो चीज मुख्य रूप से सहायक हो सकती है वह है--ईमानदारी से अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना। लेखक का सबसे बड़ा कर्तव्य है कि वह ग्रन्थ की उत्तमता के लिए भरसक प्रयत्न करे। वह अपने नाम या प्रभाव का लाभ न उठावे। वैसे नाम तुलसीदास जी के शब्दों में राम से भी बड़ा होता है, किन्तु राम और उनके नाम का जो महत्व है वह उनके काम से है। नाम के अनुरूप ही कृति का महत्व होना चाहिए। जिससे लोग यह न कहने पाएँ कि 'ऊँची दुकान और फीका पकवान'। धन और परिणाम की अपेक्षा वह पुस्तक के गुण की अधिक परवाह करें। 'चन्दन की चुटकी भली, भलो न गाठी भरो कबार'। काव्य के प्रयोजनों में 'यश से' को 'अर्थकृते' से पहले रखा गया है। लेखक को चाहिए कि वह दूसरे संस्करणों को पूरे परिश्रम के साथ अद्यतन बनाने का प्रयत्न करे और प्रूफ-रीडिंग में भी भाग ले। बहुत से लेखक अच्छे प्रूफरीडर नहीं होते (मैं भी उनमें से एक हूँ) किन्तु बहुत सी बातें ऐसी होत हैं जो लेखक ही जानता है, प्रकाशक नहीं। उनमें लेखक प्रकाशक की सहायता करे। बहुत से लेखकों की यह नीति रहती है कि 'जैसी तेरी कोमरी वैसे मेरे गीत'। यह नीति गलत है, किन्तु प्रकाशक का भी कर्तव्य है कि कौमरी बाँटने में वह कंजूसी न करे।

( १०१ )

लेखक के कुछ अधिकार भी हैं। लेखक के जो अधिकार हैं वे ही प्रकाशक के कर्तव्य बन जाते हैं। लेखक के सबसे बड़ा अधिकार है कि वह प्रकाशक से इस बात का आग्रह कर सके कि उसकी पुस्तक यथासम्भव अच्छी छपे। प्रकाशक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी कंजूसी के कारण घटिया कागज, पुराना टाइप, टूटी मात्राएँ, छापे की भूलें उलटी सीधी कटाई और भोंडी जिल्द लेखक की पुस्तक के दूषण न बन जायँ। आध्यात्मिक सौन्दर्य के साथ शारीरिक सौन्दर्य आवश्यक है। भगवान में भी शील और शक्ति के साथ सौन्दर्य का गुण अपेक्षित समझा जाता है। हिन्दी के प्रकाशनों में अब बहुत उन्नति हो गई है, किन्तु कुछ प्रकाशक अपनी कुम्भकर्णी निद्रा में पड़े हुए कूपमण्डूकता की अज्ञान-निशा से नहीं जागे हैं। वे संकुचित स्वार्थ से प्रेरित होकर पुस्तक की छपाई-सफाई की ओर यथोचित ध्यान नहीं देते। उनकी किताबें यदि बिकती हैं तो लेखक के नाम से। लेखक को कभी-कभी अपनी पुस्तकों के भदे प्रकाशन से ऐसा ही लज्जित होना पड़ता है जैसा कभी-कभी फटे चीथड़े पहने, मक्खी भिनकती हुई रोटी का टुकड़ा हाथ में लिए, रोने में आँख और नाक का पानी एक करते हुए अपने बालकों से। प्रकाशक यह कह सकते हैं कि बहुत-से लेखकों की पाण्डुलिपियां भी (मेरी खास तौर से) ऐसी ही होती हैं इसके लिए मैं यही कहूँगा कि प्रकाशक लेखकों को प्रेस-कापी तैयार करने वाले सहायक दें।

लेखक का दूसरा अधिकार है कि वह अपनी रायल्टी का पूरा-पूरा हिसाब के मामले में कच्चे होते हैं। प्रकाशक का यह नैतिक कर्तव्य होता है कि वह लेखक के हितों की स्वयं रक्षा करे और उसका शोषण न करे। 'आँख खोलकर चलो' की नीति, जो साधारण दुकानदारी से चाहे मान्य हो, लेखकों के साथ लागू न होनी चाहिए। लेखक प्रकाशक के ऊपर निर्भर रहता है। यदि प्रकाशक उसको धोखा देता है तो वह विश्वासघात का पातक करता है। लेखक प्रकाशक की गोद में सिर रखकर सोता है। उसके सम्बन्ध में प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्ति याद आती है:

जासु भरोसे सोइए राखि गोद में सीस।

तुलसी तासु कुचाल तें रखवारों जगदीस ॥

प्रकाशकों की भी कई कोटियाँ होती हैं। पाँचों अँगुलियाँ एक सी नहीं होतीं। प्रकाशक जितने बदनाम हैं उतने बुरे नहीं हैं। बद अच्छा बदनाम बुरा, किन्तु वे नितान्त दूध के धोए भी नहीं होते। प्रकाशक जिनसे कापीराइट खरीद लेते हैं उनकी कृतियों से मनचाहा लाभ उठाने का वे कानूनी और नैतिक अधिकार समझ लेते हैं, किन्तु वे यह नहीं सोचते कि यदि कोई गरीब लेखक अर्थाभाव से अपनी कृति बेच

देता है तो उसकी विवशता से लाभ उठाना अनुचित हैं। कुछ प्रकाशक अच्छी चलने वाली किताबों पर रायल्टी देने भी लग जाते हैं, किन्तु ऐसे विरले ही हैं।

रायल्टी के सम्बन्ध में मेरे कई प्रकार के अनुभव हैं: एक प्रकाशक तो ऐसे सज्जन हैं कि वे पहली अप्रैल को तो नहीं, शायद इस भय से कि लेखक यह न समझ ले कि 'एप्रिल फूल' बनाया जा रहा है, किन्तु दूसरी तीसरी या ज्यादा-से-ज्यादाह ५ अप्रैल तक हिसाब और चैक भेज देते हैं। उनके चैक का मैं आषाढ़ के प्रथम दिवस की वर्षा के समान स्वागत करता हूँ। 'बिन मांगे मिले सो दूध' उनके ही दूसरे भाई-बन्धु हैं जो हिसाब करके महीने दो महीने बाद स्वयं टेरे बुलाइकर चैक दे देता हैं। वे मेरी और भी बहुत-सी बेगार कर देते हैं, मेरा चैक भुनवा देते हैं, साल-भर लड़के बच्चों को किताबें उनके यहाँ से उधार आती रहती हैं। तीसरे एक ऐसे हैं, जो हिसाब तो ठीक समय पर कर देते हैं किन्तु वे 'जल-बिन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः' की नीति बरतते हैं। उनके हिसाब की ईमानदारी में पूरा विश्वास रहता है, किन्तु 'हे ईश्वर, रोज की रोटी मुझे दे' की-सी दूसरे-दिन हाथ पसारकर प्रार्थना करनी पड़ती है। एक सज्जन ऐसे भी हैं जो मुझे समय-समय पर रुपया तो देते रहे हैं किन्तु हिसाब के नाम पर नित्य नया बहाना बनाते रहते हैं। आज स्वतन्त्रता प्राप्त हुए ६ वर्ष हो गए, किन्तु हिसाब बनने के शुभ दिन के दर्शन नहीं हुए। लेखक बेचारा ऑडिटिंग नहीं जानता, ६वर्ष में उसके पास कोई साधन भी नहीं रहता कि जिसके आधार पर वह यह पता लगा सके कि कितनी पुस्तकें छपीं और कितनी बिकीं। लेखक को जो रुपया मिला उसका रेकार्ड तो प्रकाशक के पास है, किन्तु किताबें जितनी छपीं उनका कोई रेकार्ड नहीं। उसका पता लगाने के लिए लेखक को शायद इतना ही अनुसन्धान करना पड़ेगा जितना कि तुलसी या सूर के जन्मस्थान का पता लगाने में। लेखक प्रकाशक के द्वार पर हाजिरी दे, किन्तु प्रकाशक महोदय को अवकाश ही नहीं होता। ऐसे सज्जनों से रक्षा करने के लिए लेखकों की एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो अपने सामूहिक नैतिक बल से बेचारे लेखक को भटकने से बचाए। इस पंक्तियों का लेखक इस बात की भी जानकारी चाहता है कि यदि प्रकाशक ने उधार पुस्तकें किसी बुकसेलर को दे दी हैं और उससे उसका रुपया वसूल नहीं हुआ तो उसका भार क्या लेखक पर रहेगा ?

प्राशकगण यह कह सकते हैं कि कलम लेखक के हाथ है जो चाहे बुराई-भलाई लिख दें। किन्तु बहुत से लेखक ऐसे निरीह व्यक्ति होते हैं जिनको अपने हित-अहित का भी ध्यान नहीं रहता। ऐसे लोगों के हितों की रक्षा के लिए लेखकों और प्रकाशकों को पूर्ण सहयोग के साथ प्रयत्नशील होना चाहिए। चौथी कोटि के प्रकाशक भी विरले ही हैं, लेकिन हैं अवश्य। उनको चाहिए कि वे स्वयं ही

( १०३ )

लेखकों के साथ न्याय करें, उनके समय को नष्ट न करें और उनको उनकी मेहनत का पूरा-पूरा लाभ होने दे; वरन् इस बात का भी सन्तोष दें कि उनका हिसाब आइने की तरह साफ हैं और उनके साथ अन्याय नहीं हुआ।

यदि हिसाब की सफाई प्रकाशकों की ओर से रहे और लेखक की ओर से पुस्तक को अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाने की बात रहे तो ऐसी कोई बात नहीं रह जाती कि लेखकों और प्रकाशकों के सम्बन्ध अच्छे न रहें। 'पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः' अर्थात् जिस प्रकार पानी से कमल की और कमल से पानी की, कमल और पानी से तालाब की शोभा हैं, उसी प्रकार लेखक से प्रकाशक की, प्रकाशक से लेखक की और लेखक और प्रकाशक से साहित्य की शोभा हैं।

---

: २२ :

अ० भा० ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा अधिवेशन  
के अवसर पर  
सभापति पद से दिया हुआ अभिभाषण

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।  
प्रणात क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥  
ब्रज भाषे! हौं भूलि सकत कबहूँ नहीं तो कों,  
तेरी महिमा और मधुरिमा मोहत मो कों ।  
वह वृन्दावन, नन्दगाँव, गोकुल, बरसानौ,  
जहाँ स्वर्ग को सार अविनि तल पै सरसानौ ।  
वे कालिन्दी कूल कलित कलरव वा जल को,  
झलकत जामें स्याम वरन अजहूँ स्यामल को ।  
वे करीर, वे कुञ्ज चीर उरझावन हारे,  
रहे आप बलवीर जहाँ सुरझावन हारे ॥

-श्री मैथिलीशरण गुप्त

**आभार प्रदर्शन:** देवियो और देवताओ--'जिहि ब्रज केलि निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयाग' उसी राधाकृष्ण चरणाम्बुजाङ्कित पुण्य भूमि इस ब्रज धाम में मुझे सम्मान देकर आप लोगों ने जिस सौजन्य और स्नेह का परिचय दिया है उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। आपने घरके जोगना कों जोगी ही नहीं वरन् सिद्ध समझने के जो अपूर्व साहस किया है वह मेरे दूषित अहंभाव के लिए तोषप्रद अवश्य है किन्तु विवेक बुद्धि से मैं आपको बधाई देने को तैयार नहीं हूँ। बधाई का समय परीक्षा के पश्चात आता है। अभी तो आपकी इस उदारता को स्नेहाधिक्य की मूर्खता ही कह सकता हूँ, पीछे से व बुद्धिमत्ता सिद्ध हो जाय तो मेरा परम सौभाग्य होगा। वास्तव में मूर्खता सफल होकर साहस और दूरदर्शिता के भव्य नामों से पुकारी जाती है और विफल साहस को मूर्खता की गर्हित संज्ञा प्रदान की जाती है। आप अपने इस निर्णय को साहस प्रमाणित करें या मूर्खता, यह आप के कार्य-कोशल, परिश्रम और पारस्परिक सहयोग पर निर्भर रहेगा। मैं आप लोगों के विश्वास पर बिना आगा पीछा सोचे आपकी सेवा करने के लिए प्रस्तुत हो गया हूँ।

**ब्रजभाषा साहित्य की व्यापकता :** ब्रज भूमि को भौगोलिक सीमाएँ चाहे चौरासी कोस की ही मानी जायँ और चाहे मथुरा-मण्डल को ही चौरासी कोस का

माना जाय 'ब्रज चौरासी कोस में मथुरा-मण्डल धाम' ब्रजभाषा का क्षेत्र व्यापक हैं। इसकी सीमाएँ मथुरा से बाहर अलीगढ़, एटा, धोलपुर, भरतपुर, गवालियर और पूर्व में इटावा और कन्नौज तक हैं। ब्रजभाषा की साहित्यिक और सांस्कृतिक सीमाएँ तो देशव्यापिनी हैं। गुजरात, राजस्थान और बंगाल तो इससे विशेष रूप से प्रभावित हैं। जहाँ-जहाँ भगवान कृष्ण की उपासना है वहाँ-वहाँ ब्रजभाषा का अधिकार है। भगवान कृष्ण जन जीवन में जितने घुल मिल गये हैं उतने और अवतार नहीं। साहित्य, संगीत और चित्रकला कृष्ण के जीवन-माधुर्य से ही मधुरिमा प्राप्त करते हैं। ब्रजभाषा ने जितना कृष्ण के और ब्रज के जीवन को अपनाया है और किसी भाषा ने नहीं। इसीलिए इसकी सांस्कृतिक छाप और भाषाओं पर पड़ी। वैसे भी मध्यदेश की भाषा देश की व्यापक भाषा रही है। इसको अपनी माता शौरसेनी द्वारा संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त है। अवधी के साथ यह देश की साहित्यिक भाषा रही है किन्तु अवधी अपने क्षेत्र में ही सीमित रही, इसका विस्तार सारे हिन्दी के क्षेत्र में रहा। ब्रज क्षेत्र के बाहर के रहने वालों ने भी सफलतापूर्वक इस भाषा में कविता की है। कबीर, हरिश्चन्द्र, रत्नाकर आदि सब पूर्व के थे, फिर भी इसकी व्यापकता और माधुर्य के कारण इन्होंने ब्रजभाषा को ही अपनाया। कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए राम के नाते अवधी के अनन्य उपासक तुलसी ने भी गीतावली, कवितावली और विनयपत्रिका में ब्रजभाषा को ही अपनाया। जादू वह है जो सिर पर चढ़कर बोले।

मुसलमानों ने जितना हिन्दी भाषा के इस रूप को अपनाया उतना शायद अवधी को अपनाया हो तो अपनाया हो किन्तु दूसरे रूपों को नहीं अपनाया। इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को बरबस कहना पड़ा कि 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू वारिए।'

खड़ीबोली राष्ट्रभाषा होने पर भी पढ़े-लिखे सूट-बूट धारी और बगुला के पंख जैसे श्वेता धुले-धुलाए स्तरी कृत कपड़ों वाले लोगों की ही भाषा अधिक है। हमारे अन्नदाता भगवान कृष्ण के अग्रज हलधर के अनुयायियों ग्रामीण किसानों पर इसका या इससे प्रभावित बोलियों का जतना अधिकार है उतना खड़ी बोली का नहीं। ब्रजभाषा को भाषा होने का अधिकार प्राप्त था। वह बोली न थी। 'दिनन के हेर-फेर तें सुमेरु होत माटी की'। अब लोग चाहे उसे एक प्रादेशिक भाषा कह लें किन्तु उसका साहित्य जगत पर और ब्रजभूमि और उससे बाहर की ग्रामीण जनता पर चिरकाल में अखण्ड राज्य रहा है।

**साहित्यिक गरिमा :** ब्रजभाषा ने ही हिन्दी साहित्य गगन को सूर का प्रकाश दिया है। हिन्दी साहित्याकाश का शशि भी इसकी विभा से चमका है। राम काव्य भी इससे अलंकृत हुआ है। सूर के वात्सल्य ने इसको कोमलता प्रदान कर



( १०६ )

अमर-मुनि-दुर्लभ आनन्द को मर्त्यलोक के धरातल पर उतरा है--‘जो सुख ‘सूर’ अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिन पावे’ उस सुख की क्षीण छाया हम लोगों को भी ब्रजभाषा के माध्यम से मिल जाती है। ‘मैया कबहिं बढैगी चोटी’, ‘मैया मोह दाऊ बहुत खिजायो’, ‘मैया मैं नाही दधि खायो’ के से बाल मनोविज्ञान मय चित्रण, गोचारण का सरल माधुर्य, खेलत में को काको गुसैयां वाला साम्यभाव, सन्तन कहा सीकरी सों काम वाला राज्याश्रय को टुकराने वाला सन्तोष, कालिन्दी कूल पर शरद निशा का रास-बिहार, अष्टछाप के कवियों की वाणी से बाहर अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? रीतकाल के कला वैभव के साथ केशव के अलंकारों की झंकार भी इसी भाषा में पड़ी थी। मतिराम और देव ने इसी भाषा की अपनी अतुल साधना से माँग भर उसमें नायिका की सी निकाई भरदी थी-- ‘ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों खरी निकरै सी निकाई’। बिहारी के गागर में सागर भरने वाले समास गुण प्रधान सिनेमा के से चलचित्र उपस्थित करने वाले नायक के तीर के से घाव करने वाले दोहे इसी भाषा में लिखे गये थे। ‘भुज भुजगेश की वै संगिनी भुजंगनी सी’ खलों के बर छीनने वाली बरछी और कालिका सी काल को किलक कर कलेऊ देने वाली करवाल के वीर रस संचार करने वाले वर्णन भी इसी भाषा में हुए हैं। रहीम, तुलसी, और वृन्द के नीतपरक दोहे भी इसी भाषा में हुए हैं। रहीम, तुलसी और वृन्द के नीतपरक दाहे भी इसी भाषा में बालबोध कराते हैं। करील की कुंजों पर कोटिन कलधौत के धाम वारने वाले रस की खान रसखान के रस भरे सवैया इसी भाषा के माधुर्य को बढ़ाते हैं। सेनापति का ऋतुवर्णन इसी भाषा की श्री वृद्धि कर रहा है। ‘निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल’ की जागरण भेरो भारतेन्दु ने इसी भाषा द्वारा बजाई थी। धोये धोये पातन की कमनीय छटा मुग्ध होने वाले कोकिल कण्ठ सत्य नारायणजी का स्वदेश प्रेम इसी भाषा में प्रस्फुटित हुआ था। ‘देसहि में परदेस भयो अब जानिये’। इन सब बातों से बढ़ कर भगवतलीला का वर्णन और विनय की दीनता जितनी इस भाषा में दिखाई गई है उतनी अन्यत्र नहीं--‘सूरदास द्वारे ठाड़ो आँधरो भिखारी’। श्री मद्भागवत में कहा है कि वही साहित्य रम्य और नवीन रुचिरता वाला है, वही मन को शाश्वत प्रसन्नता देने वाला है, वही मनुष्यों का शोक हरने वाला है, जिसमें भगवान का यश गान हो।

“तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं  
तदेव शश्वन्मनसो मोहत्सवम्।  
तदेव शोषणां शोकार्णव नृणां  
यदुत्तमश्लोकयशोऽ नुगीयते ॥”

फिर इस साहित्य को हीन और हेय कौन कह सकता है। यदि केवल

( १०७ )

रीतकाल के कुछ कवियों की उद्दाम शृंगारिकता के आधार पर इसको कीर्ई हेय कहे तो वह हमारे कवियों की अमर साधना के साथ अन्याय करता है। जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि इस साहित्य का विषय विस्तार सीमित नहीं है। यह लोगों की भ्रमित धारणा है कि कृष्ण काव्य में वह जीवन की अनेक रूपता नहीं जो राम काव्य में है। ब्रजभाषा का प्रकृति प्रेम चाहे उद्दीपन रूप से क्यों न हो, अनुपम है। धार्मिक भावना ने उसमें प्राणों का स्पन्दन कर दिया है 'ब्रज की लता-लता मोहि कीजै।' इसीलिए इसकी महिमा-गरिमा पर मुग्ध होकर कविवर सत्य नारायण ने लिखा था--

“बरनन को करि सकत भला तिहि भाषा कोटी।  
मचलि मचलि जामें माँगी हरि माखन रोटी ॥  
जाकौ सो रस अवगाहत जाही में आवै।  
कैसो हू गुनवान थाह जाकी नहि पावै।।”

**भाषा का संस्कार :** भाषा का संस्कार जो ब्रजभाषा में हुआ वह भी अतुलनीय है। वह स्वभाव से ही मधुर थी और सूर, हितहरिवंश जैसे रस सिद्ध कवियों ने अपनी संगीत लहरी में उसे ढाल कर उसको और भी सुमधुर बना दिया। इस प्रकार से हम संक्षेप में कह सकते हैं कि मुख सुख और श्रुति मधुरिता के जितने भाषा शास्त्र सम्बन्धी साधन हैं, जैसे ण को न, श को स, व को ब, करना, स्वर संधियों का पूरा पूरा लाभ उठाना अदि सभी यहां अपनाये गये हैं। उर्दू, फारसी और अरबी तक के शब्दों का शुद्धि संस्कार कर ब्रजभाषा का चोला पहनाया गया है। कोमल भावों के प्रकाशन और सुन्दर शब्द चित्र उपस्थित करने की इसमें महान क्षमता है। यद्यपि वह जीवन में रुपया आना पाई वाली व्यापार बृत्ति को प्रकाश देने वाली गद्य की भाषा बनाने के लिए पिछड़ी हुई है तथापि काव्य-भाषा बनने की यह अपूर्व क्षमता रखती है। लोक साहित्य सृजन की जितनी उसमें क्षमता है उतनी खड़ी बोली में नहीं है। इसका लोक साहित्य बड़ा समृद्ध है जिसका वैज्ञानिक अध्ययन डॉक्टर सत्येन्द्र जी ने ब्रज लोक साहित्य के अध्ययन में किया है। उसका अतीत अत्यंत मूल्यवान और फलतः संरक्षणीय है। उसका भविष्य भी उज्ज्वल है और वह ब्रजभाषा के उपासकों से सत्प्रयत्न की अपेक्षा रखता है।

**हमारा उत्तरदायित्व :** हम जो अपने को कलाकार और साहित्यिक समझते हैं, जो अपने को सूर और मतिराम का उत्तराधिकारी मानते हैं, उनका विशेष उत्तरदायित्व है कि हम अतीत की रक्षा का ऋषि ऋण को चुकावें। साहित्य की रक्षा का अभिप्राय उसे लोहे की तिजोरियों में बन्द कर उसकी जलवायु और अग्नि के प्रकोप से रक्षा करना नहीं है वरन् उसको प्रकाश में लाना, उसके अध्ययन अध्यापन

की व्यवस्था करना और उसका वर्गीकरण कर उसका उचित मूल्यांकन करना है। अभी हमने भक्तिकाल की रचनाओं को भक्तिकाल के दृष्टिकोण से नहीं पढ़ा है। हम सूर और तुलसी की आत्मा से तादात्म्य नहीं कर सके हैं। रीतिकाल में कमियाँ अवश्य रहीं। वे इस बात के इतने दोषी नहीं कि उन्होंने नायिका प्रेम को इतना विस्तार दिया वरन् इस बात के दोषी अवश्य हैं कि अन्य रसों का कदाचित् महत्ता नहीं दी। यद्यपि उनके सामने सूर और तुलसी का साहित्य वर्तमान था तथापि उसके कारण वे साहित्य शास्त्र को कोई नवीन दिशा न दे सके। सूर के वात्सल्य का इतना विस्तार होते हुए भी वे वात्सल्य रस का शास्त्रीय विवेचन न कर पाये। फिर भी उसका कर्म निष्फल नहीं है। उनके उदाहरणों में जितना कवित्व है शायद उतना कवित्व संस्कृत के उदाहरणों में नहीं है। अब हमको रीति शास्त्र के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है। यदि वे लोग पिछड़ रहे तो इसके यह मानी नहीं कि हम आगे न बढ़ें। यदि वे पद्य में थे तो यह आवश्यक नहीं कि हम भी पद्य में लिखें। पुराने साहित्य का अध्ययन निष्फल नहीं जायगा। मानव और जड़ प्रकृति का जितना सुन्दर अध्ययन प्राचीन साहित्य में हुआ है उतना आजकल भी कठिनाई से मिलेगा। हम अपनी संस्कृति, जन-जीवन और प्रकृति से दूर हटते जाते हैं। प्राचीन साहित्य हमको प्राचीन संस्कृति के सम्पर्क में लायगा और भारतीय संस्कृति के अंग स्वरूप प्रकृति से भी हमारा परिचय करायगा। हमारी वर्तमान सभ्यता ने हमको प्रकृति से बहुत दूर कर दिया है। हम सूर्य के आलोक से अपने को वंचित कर विद्युत के आलोक में दृष्टिमांद्य रोग का अर्जन किया करते हैं। हम छुरी कांटों द्वारा भोजन को भी सुखद स्पर्श से वंचित रहते हैं। हम अपने कवियों को तो दोष देते हैं कि वे फूलों और वृक्षों को नाम परिगणन मात्र जानते हैं। हम तो नाम भी नहीं जानते और हम अपनी आलोचना को सार्थक करने के लिए स्वयं फूलों वृक्षों और पशु-पक्षियों से जीवित परिचय स्थापित करने का कष्ट नहीं उठाते हैं।

**साहित्य और संस्कृति :** हमारा उत्तरदायित्व साहित्य तक ही सीमित नहीं है वरन् संस्कृति भी हमारे कर्म-क्षेत्र में आती है। साहित्य और संस्कृति का चोली दामन का साथ है। बिना-संस्कृति के अध्ययन के साहित्य हमारी समझ से बाहर रहेगा। संस्कृति शब्द का आजकल बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। संस्कृति के प्रचारकों के दो दल हैं एक दल तो अपरिवर्तनवादी है और दूसरा दल परिवर्तनवादी है। जो लोग दुग्ध विक्रेताओं की भांति यह मानते हैं कि जितना उसमें जल का मिश्रण हो उतना ही वह लाभदायक है। यह बात तो निर्विवाद है कि एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को प्रभावित करती है किन्तु जहां भारतीय संस्कृति के स्रोत बन्द कर दिये गये हैं, वहाँ दूसरी संस्कृतियों का मिश्रण मूल संस्कृति को नष्ट कर देगा। हमको

( १०९ )

अपनी संस्कृति के स्मृतों को खुला रखकर उसकी धारा को वेगमय बनाना है, तब और संस्कृतियां भी उसमें मिलकर भारतीय संस्कृति को पुष्ट बना सकेंगी। समन्वयवाद हमारी संस्कृति का एक प्रमुख अंग है। किन्तु हमको सदा ध्यान रखना चाहिए कि इस समन्वयवाद में हम अपने कवित्व और अपनी मूल प्रकृति को न भूल जायें। इसलिये हमको ब्रज की संस्कृति के अंग गीत, वाद्य, खेल-कूद, कहावतें, कहानी, तीज-त्यौहार, खान-पान सबकी रक्षा करनी है। यदि इनकी रक्षा न की जायगी तो सूर सागर की बहुत सी बातें समझ में न आवेंगी। हम अपनी संस्कृति को अजायबघर की चीज नहीं बनाना चाहते हैं बस उसको जीवित रखना चाहते हैं। संकुचित रू से नहीं वरन् उदार रूप से, लेकिन हम उदारता चाहते हैं कि अपना अस्तित्व न खो बैठें। इसलिए ब्रज साहित्य मण्डल का पहला कार्य है ब्रज संस्कृति की रक्षा।

**प्राचीन साहित्य की रक्षा :** हमारा दूसरा कर्तव्य है साहित्य की रक्षा। साहित्य की रक्षा के सम्बन्ध में मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि उसका अर्थ जितोरियों में सुरक्षित रखना नहीं है। यद्यपि वह तितोरियों के धन से भी अधिक मूल्यवान है। उसका सृजन हमारे पूर्वजों के रुधिर से हुआ है। उसकी रक्षा प्रकाशन प्रचार और अध्ययन, अध्यापक और आलोचकों द्वारा मूल्यांकन करना आवश्यक है। हर्ष की बात है कि इस दिशा में कुछ कार्य हो रहा है। डॉक्टर नगेन्द्र द्वारा देव की कविता का अध्ययन डाक्टर भागीरथ प्रसाद मिश्र द्वारा हिन्दी काव्य शास्त्र का अध्ययन इस दिशा में अच्छे प्रयत्न हैं। रीति ग्रन्थों के क्रमवद्ध विकास आचार्यों कीदैन का विधिवत अध्ययन वांछनीय है। नायिका भेद का अध्ययन श्री प्रभूदयाल जी मीतल ने किया है सुना है डा० राकेश भी कर रहे हैं। इसके लिए हमको सुपाठ्य सामग्री प्रस्तुत करनी होगी। टका-टिप्पणियों सहित संस्करणों की आवश्यकता होगी। उनका प्रकाशन और वितरण बाल्मीक दृष्टि से, कम से कम संकुचित बाल्मीक दृष्टि से, न किया जाय। इस प्रकार का प्रकाशन साहित्य सम्मेलन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा और ब्रज साहित्य मण्डल कर सकता है। बहुत सी मूल्यवान पुस्तकों के एक-एक संस्करण निकल कर रह गए हैं, अब वे अप्राप्य हैं। ऐसे अप्राप्य ग्रन्थों को पुनरावृत्तियां आवश्यक हैं। ब्रजभाषा के अध्ययन के लिए केन्द्र खोले जायें। ब्रज क्षेत्र में तो उनका खोला जाना परम आवश्यक है। इन अध्ययन केन्द्रों के साथ सुन्दर संग्रहालयों की भी आवश्यकता है। विश्वविद्यालयों से ब्रजभाषा साहित्य और उसके भाषा विज्ञान के अध्ययन का अनुरोध किया जाय जिससे कि ब्रज साहित्य का प्रमाधिकरूप से अध्ययन हो सके। साहित्य निर्माण में देव पुरस्कार से बड़ी सहायता मिल रही थी। वह दुर्भाग्यवश बन्द हो गया है।

हमको रचनात्मक ग्रन्थों पर पुरस्कार देने की आवश्यकता तो है ही किन्तु आलोचनात्मक ग्रन्थों का भी न भूलना चाहिए। पुरस्कार के लिए २००० रुपये की ही रकम आवश्यक नहीं। मान का पान भी बहुत होता है। रुपये न हों तो तालपत्रों से ही हम लेखकों को प्रोत्साहित कर सकते हैं किसी रुदन्ती के करुण रस से वह भी स्वर्ण का हो सकता है। जनता से सम्पर्क बढ़ाने तथा ब्रज साहित्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए हमको अपनी ब्रज भारती पत्रिका को अधिक पृष्ठ की और मॉसल बनाने की आवश्यकता है। वह भी एक प्रकार का अध्ययन कार्य होगा।

**साहित्य निर्माण :** साहित्य निर्माण के सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि हम किसी साहित्य से प्रतिद्वन्ता का भाव नहीं रखना चाहते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि 'का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँचु' तथापि भावों की ग्राहकता में माध्यम का भी बहुत महत्व हो है। बहुत से लोग ऐसे हैं जिनका हृदय अब भी ब्रजभाषा के लिए ही प्रतिस्पन्दित होता है। भिन्न रुचिर्हि लोकः। हमको अपना संदेश ब्रजभाषा द्वारा ही पहुँचाना है। जिस प्रकार तुलसी ने अपना राम भक्ति का संदेश ब्रज और अवधी दोनों ही में पहुँचाया था उसी प्रकार आजकल के कवि को देश भक्ति का संदेश ब्रजभाषा में भी देने की आवश्यकता है। यह बात ठीक नहीं है कि जैसे-जैसे सम्यता का विकास होता है कविता का हास होता है। कविता के लिए अब भी गुंजाइश है। हम ब्रजभाषा को मृत भाषा नहीं बनाना चाहते। इस सम्बन्ध में हम अपने संस्कृत के आचार्यों से शिक्षा ले सकते हैं। उन्होंने प्राकृतों की रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटकीय पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न प्राकृतों के प्रयोग का उपदेश दिया था। दूसरी भाषाओं को मान देने के लिए ही उन्होंने भाषा समक अलंकार रक्खा था। उसमें फारसी तक को मान दिया गया था। हम साहित्य के कुछ ऐसे नये प्रयोग कर सकते हैं जिनमें ब्रजभाषा को स्थान रहे।

**कविता के विषय :** कविता के विषय बदले जाने की जरूरत है। हमको लकीर के फकीर बनने की आवश्यकता नहीं है। नई परिस्थितियों में नये-नये विषयों को अपनाये जाने की आवश्यकता होती है। अब कविता राजदरबार की वस्तु नहीं रही। स्त्रियों के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण बदल गया है वह अब न भोग्या है और न इतनी निरीह कोमल है। वह इतनी सुकमार भी नहीं रही कि गुलाब की पंखुरी के झरने से पैर घिसे जाने पर वे लाल पड़ जायं। अब तो वे वीरांगनाएं हैं जो जीवन के कठोर संघर्ष में कूदने को तैयार हो जाती हैं। वे अवला कहे जाने में अपना गौरव नहीं समझती। वह हमारी सहधर्मिणी है। वह हमारे उच्च कार्यों में सहयोग देने वाली हैं। इस भावना की खड़ी बोली में यशोधरा और वैदेही बनवास द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। ब्रजभाषा में भी इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति हुई है। ब्रजभाषा में भी

इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति में ब्रजभाषा ने भी योग दिया। अब राष्ट्र उत्थान और निर्माण में भी उसको योग देने की आवश्यकता है। ब्रजभाषा के लोक साहित्य में वर्तमान समस्याओं का समावेश हो चला है। हमारे शिक्षित कवियों ने भी वर्तमान समस्याओं पर हास्य प्रधान कविताएँ लिखी हैं, किन्तु यद्यपि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात ऐसी परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न हुई हैं जिनसे हृदय में उल्लास उत्पन्न हो, फिर भी राष्ट्रनिर्माण के लिए हमारे कवियों को ऐसी कवितायें लिखने की आवश्यकता है जो राष्ट्र के प्रति गर्व क भावना उत्पन्न करे। इस बात की कमी खड़ी बोली में भी और ब्रजभाषा में भी। हमको इस बात की आवश्यकता है कि राष्ट्र के प्रति हममें गर्व की भावना उत्पन्न हो। हम राष्ट्र को अपना समझें उसको सुधारने का उत्तरदायित्व हम अपने ऊपर ले सकें। भ्रष्टाचार का सुधार भ्रष्टाचार की कटुता पूर्ण आलोचना करके भी हो सकता है और अपने कार्यकर्ताओं में उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत करके भी। हमारे कवियों में उत्तरदायित्व के जाग्रत करने की भावना आनी चाहिए। इसी के साथ उनको जीवन के सौन्दर्य का भी चित्रण करना चाहिए जिससे जीवन के प्रति श्रद्धा बढ़े। जीवन के प्रति श्रद्धा बढ़ाकर ही हम युद्ध में एटम बम्ब का प्रयोग करने वालों को कुछ शिक्षा दे सकते हैं। कृष्ण काव्य की यही विशेषता रही। उसमें चाहे रामरसायन की भाँति नैतिक पौष्टिकता न रही हो किन्तु उसमें माधुर्य अधिक था। बाल और यौवन लीलाओं का वर्णन कर उसने जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की और मृत प्रायः हिन्दू जाति में नया जीवन संचार किया। ब्रजभाषा के अलभ्य ग्रन्थों के आधार पर संचारी और स्थायी भावों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इस कार्य को विश्वविद्यालय अच्छी तरह कर सकते हैं।

**पार्थक्य भावना :** हम यह सब बातें किसी पार्थक्य भावना से नहीं कहे रहे हैं, ब्रजभाषा की उन्नति हिन्दी की उन्नति है। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद चाहे कबीर, सूर और तुलसी को पैदा करने का श्रेय हिन्दी को न दें किन्तु हिन्दी को ब्रजभाषा के कवियों पर गर्व है। परिवार के एक व्यक्ति की उन्नति सारे परिवार की उन्नति है। हमको राष्ट्रभाषा की उन्नति में योग देना आवश्यक है। ब्रजभाषा की उन्नति से हिन्दी को व्यावहारिक कार्यक्षम और उच्चशिक्षा का माध्यम बनाना हमारा परम पुनीत कर्तव्य है। उसमें उपयोगी साहित्य तैयार होने पर ही वह राष्ट्रभाषा होने की पन्द्रह वर्ष की आगामी तिथि वाली चैक भुना सकेगी। हिन्दी का मान होने पर ब्रजभाषा का भी मान हो सकेगा। विकेन्द्रीकरण की भावना वहीं तक श्रेयस्कर है जहाँ तक वह संगठन में बाधक न हो। हमको इस समय संगठित मोर्चे की आवश्यकता है। ब्रजभाषा क अकेली खिचड़ी नहीं पकाई जा सकती है। हम

ब्रजभाषा पर इसीलिए विचार कर रहे हैं कि हमारा ब्रजभाषा से निकट का सम्बन्ध है। ब्रजभाषा की सम्पत्ति हिन्दी की सम्पत्ति है ब्रजभाषा की समृद्धि हिन्दी की समृद्धि है।

**भवन निर्माण :** हमारे सामने बहुत सा कार्य है। हमारा उत्तरदायित्व भारी है। सूर और देव मतिराम की कीर्ति रक्षा का भार हमारे ऊपर है। यह सब कार्य भवन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता है। भवन निर्माण सबसे पहिली आवश्यकता है। उसी में हमारा सांस्कृतिक संग्रहालय रह सकता है। उसी में शोध और अनुसन्धान का कार्य चल सकता है। हमको उसे खोज, अनुसन्धान और संग्रहालय की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाकर उसको एक सांस्कृति केन्द्र बनाना है। हमको सौभाग्य से ऐतिहासिक टीले पर यमुना किनारे स्थान मिला है। क्या हम उसमें लता-गुल्मों आर कुंजों द्वारा प्राचीन ब्रज की दृश्यावली को अवतरिक नहीं कर सकते हैं जिसमें हम बिहारी के शब्दों में सकें--

सघन कुन्ज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।  
मनु है जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर ॥

---